मन के हारे हार है मन के जीते जीत

— श्रीराम शर्मा आचार्य

मन के हारे हार है
मन के जीते जीत

लेखक :

ब्रह्मवर्चस्

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

पुनरावृत्ति सन् **२००६** मूल्य : ६.०० रुपया

विषयानुक्रम

परिस्थितियों को संतुलन पर हावी न होने दें

मस्तिष्क मानवी सत्ता का ध्रुवकेंद्र है। उसकी शक्ति असीम है। इस शक्ति का सही उपयोग कर सकना यदि संभव हो सके, तो मनुष्य अभीष्ट प्रगति–पथ पर बढ़ता ही चला जाता है। मस्तिष्क के उत्पादन इतने चमत्कारी हैं कि इनके सहारे भौतिक ऋद्धियों में से बहुत कुछ उपलब्ध हो सकता है।

मस्तिष्क जितना शक्तिशाली है, उतना ही कोमल भी है। उसकी सुरक्षा और सक्रियता बनाए रहने के लिए यह आवश्यक है कि अनावश्यक गरमी से बचाए रखा जाए। पेंसिलिन आदि कुछ ओषधियाँ ऐसी हैं, जिन्हें कैमिस्टों के यहाँ ठंढे वातावरण में, रेफ्रीजरेटरों में सँभालकर रखा जाता है। गरमी लगने पर वे बहुत जल्दी खराब हो जाती हैं। औषधियाँ ही क्यों अन्य सीले खाद्य पदार्थ कच्ची या पक्की स्थिति में गरम वातावरण में जल्दी बिगड़ने लगते हैं। उन्हें देर तक सही स्थिति में रखना हो तो ठंढक की स्थिति में रखना पड़ता है। मस्तिष्क की सुरक्षा के मोटे नियमों में एक यह भी है कि उस पर गरम पानी न डाला जाए, गरम धूप से बचाया जाए। बाल रखाने और टोपी पहनने का रिवाज इसी प्रयोजन के लिए चला है कि उस बहुमूल्य भंडार को यथासंभव गरमी से बचाकर रखा जाए। सिर में ठंढी प्रकृति के तेल या धोने के पदार्थ ही काम में लाए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि मस्तिष्क को अनावश्यक उष्णता से बचाए रहने की सुरक्षात्मक प्रक्रिया को बहुत समय से समझा और अपनाया जाता रहा है।

यह बाह्योपचार हुआ। वस्तुतः मस्तिष्कीय संपदा खोपड़ी के भीतर है। बाहरी गरमी के ऋतु प्रभाव से तो हड्डी के ऊपर का

भाग ही बचाया जा सकता है। भीतरी क्षेत्र में अनावश्यक गरमी न बढ़ने देने की बात मुख्य है। बाह्य सुरक्षा के लिए तो प्रकृति ने भी मजबूत तिजोरी जैसी खोपड़ी पहले से ही रच दी है। स्रष्टा को पता था कि जो अवयव जितने अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, उनकी सुरक्षा का प्रबंध उतनी ही अधिक अच्छी तरह किया जाना है। हृदय, मस्तिष्क, फुफ्फुस, जिगर जैसे अति महत्त्वपूर्ण अवयवों को हड्डियों के मजबूत खोखले में बंद करके रखा गया है। इन सबमें मस्तिष्क की उपयोगिता और कोमलता सर्वोपरि है। इसलिए उसे खोपड़ी की मजबूत डिब्बी में इस तरह सँभालकर रखा गया है, जिसे खजाने की तिजोरी या मोती की सीप, राजा की किलेबंदी की उपमा दी जा सकती है।

मस्तिष्क का बहुमूल्य यंत्र तभी ठीक तरह काम कर सकता है, जब उसे शांतिमय वातावरण में, एयर कंडीशन कमरों जितने तापमान में काम करने दिया जाए। मर्यादा से अधिक गरम रहने पर इंजन, मोटर या अन्य मशीनें अपना काम करना बंद कर देती हैं। ठीक यही स्थिति मस्तिष्क की है। उससे ठीक काम लेना हो तो संतुलित परिस्थितियाँ बनाए रहना आवश्यक है। फोटो फिल्में अनावश्यक गरमी सहन नहीं कर पातीं। इसी प्रकार मस्तिष्क भी उत्तेजना एवं आवेश की स्थिति उत्पन्न होने पर एक प्रकार से अपना काम करना ही बंद कर देते हैं। यदि कुछ करते भी हैं तो वह उलटा होता है। वह उलटापन लाभ के स्थान पर हानि ही उत्पन्न करने लगता है।

मस्तिष्क को बाहरी गरमी, तेज धूप, गरम पानी किन्हीं रसायनों से मिलती है, किंतु भीतरी गरमी उत्पन्न होने का कारण उत्तेजनाएँ होती हैं। उनकी मात्रा जितनी बढ़ेगी, उतनी ही मानसिक संरचना को स्थायी रूप से हानि पहुँचेगी और सामने पड़े कामों को ठीक तरह कर सकना उनके लिए संभव न रहेगा। देखा जाता है कि कोई आवेश चढ़ने पर आदमी अर्द्धविक्षिप्त जैसी स्थिति में जा पहुँचता है। उसकी कल्पना, निर्णय, हरकतें सब कुछ विचित्र हो जाती हैं।

क्रोध का आवेश जिस पर चढ़ रहा हो, उसकी गतिविधियों पर ध्यानपूर्वक दृष्टि डाली जाए, तो पता चलेगा कि पागलपन में अब बहुत थोड़ी ही कमी रह गई है। अधिक क्रोध आने पर मस्तिष्कीय द्रव एक प्रकार से उबलने लगता है और यदि उसे ठंढा न किया जाए, तो मानसिक रोगों के लेकर हत्या–आत्महत्या जैसे क्रूर कर्म कर बैठने जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

क्रोध का आवेश शरीर पर क्या असर डालता है और बुद्धि को कैसा भ्रष्ट कर देता है? उसके उदाहरण हम सब आए दिन अपने आस–पास ही देखते रहते हैं। गुस्से से तमतमाया चेहरा राक्षसों जैसा बन जाता है। आँखें, होठ, नाक आदि पर आवेशों के उभार प्रत्यक्ष दीखते हैं। मुँह से अभीष्ट शब्दों का उच्चारण चल पड़ता है। रक्त–प्रवाह की तेजी से शरीर डोलने लगता है। हाथ–पैर काँपते और रोएँ खड़े होते देखे जाते हैं, ऐसा व्यक्ति स्वयं एक समस्या बन जाता है। ऐसी दशा होने पर हितैषी लोग सबसे पहला काम यह करते हैं कि आवेशग्रस्त को येन–केन–प्रकारेण शांत करते हैं। जिस कारण उत्तेजना आई थी, उसका निवारण करने पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना कि आवेग ठंढा करने पर; किसी भी प्रतिकूलता में उतनी हानि नहीं होती, जितनी कि आवेशग्रस्तता से। इस मोटी जानकारी से हर कोई परिचित रहता है, इसलिए हितैषियों का प्रथम कार्य गुस्सा ठंढा करना होता है। वैज्ञानिक तथ्य यह है कि एक घंटे का क्रोध एक दिन के तेज बुखार से भी अधिक जीवनी शक्ति का विनाश करता है।

रक्तचाप में व्यतिरेक दो प्रकार के होते हैं—एक ऊँचा दूसरा नीचा। उच्च रक्तचाप, हाई ब्लड प्रेशर में बेचैनी बढ़ने के कारण कष्ट होता है। निम्न रक्तचाप, लो ब्लड प्रेशर के लक्षण तो भिन्न होते हैं, पर कष्ट उससे भी उतना ही होता है। लो ब्लड प्रेशर का मरीज भारी कमजोरी अनुभव करता है और अपने को अपंग, असहाय जैसी स्थिति में पाता है। इन दोनों ही प्रकार के व्यतिरेकों में

रोगी की कार्यक्षमता एवं मनःस्थिति पर हानिकारक प्रभाव लगभग एक जैसा ही होता है।

क्रोध की उच्च रक्तचाप से और खिन्नता की निम्न रक्तचाप से तुलना की जा सकती है। क्रोध वर्ग में द्वेष, घृणा, आक्रमण, विनाश जैसे क्रूर प्रकृति के विचार एवं कृत्य गिने जा सकते हैं। खिन्नता वर्ग में निराशा, चिंता, शोक, भय, संकोच जैसी निष्क्रियता उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों की गणना होती है। इन्हें ज्वार-भाटा के समतुल्य और अस्थिरता, अव्यवस्था उत्पन्न करने वाला कहा जा सकता है। उफनते समुद्र में तैरना कितना कठिन होता है, इसे सभी जानते हैं।

शोकग्रस्त, भयभीत, निराश व्यक्ति की मनोदशा उसके अच्छे-खासे स्वास्थ्य को देखते-देखते तोड़-मरोड़कर रख देती है। चेहरे पर मुरदनी छा जाती है। सही आवाज तक नहीं निकलती। लगता है कि शरीर को काठ मार गया, कुछ करते-धरते नहीं बनता है। भूख-प्यास गायब हो जाती है। नींद आने में भारी कठिनाई पड़ती है। क्रोध में भी लगभग ऐसा ही होता है। अंतर इतना भर रहता है कि खिन्नता में, बरफ में जमने और गलने जैसी स्थिति होती है, तो उतेजना में आग से जलने-उबलने जैसी। सामान्य स्थिति तो दोनों ही दशाओं में नष्ट हो जाती है और न केवल मस्तिष्क, वरन साथ-साथ शरीर भी अपनी साधारण गतिविधियाँ जारी रख सकने में असमर्थ बन जाता है।

मस्तिष्कीय क्षमता एवं कुशलता बढ़ाने का महत्त्व सभी जानते हैं और इसके लिए अध्ययन, परामर्श, संपर्क, अनुभव, संपादन, अभ्यास जैसे कितने ही साधन जुटाते हैं। प्रसन्नता से मानसिक उर्वरता बढ़ने की बात को ध्यान में रखते हुए मनोरंजन के लिए कई ऐसे कार्य करते हैं, जिनमें समय और पैसा काफी लग जाता है। इन रचनात्मक प्रयोजनों से परिचित होते हुए भी न जाने इस तथ्य को क्यों भुला दिया जाता है कि आवेश एवं अवसाद जैसी अव्यवस्था फैलाने वाली मनःस्थिति उत्पन्न न होने दी जाए। लाभोपार्जन करने

की बात का जितना महत्त्व है, उतना ही हानि न होने देने का भी। एक ओर लाभ कमाया जाए, दूसरी ओर हानि बढ़ती जाए, तो फिर अंततः व्यवसाय घाटे में फँसता चला जाएगा और दिवालिया बनने की नौबत आ जाएगी।

आवेशों का शरीर पर क्या असर होता है, इसका पर्यवेक्षण करने पर प्रतीत होता है कि सामान्य कार्यक्षमता को उनके कारण भारी आघात पहुँचता है। आँख, कान, नाक, जीभ अपना काम मुश्किल से ही आधा-अधूरा कर पाती हैं। जीभ का स्वाद चला जाता है। पेट की भूख उड़ जाती है। कान कुछ-का-कुछ सुनते हैं। आँखों के सामने गुजरने वाली घटनाओं में से बहुत कम की स्मृति रहती है। तापमान बढ़ता है। रोमांच खड़े होते हैं। साँस तेज चलती है। हृदय की धड़कन और रक्त-प्रवाह की तेजी बढ़ती है। येसारे लक्षण मिलकर जीवनी शक्ति का बड़ी मात्रा में विनाश करते हैं। यह तो यदा-कदा की बात हुई। यदि यह असंतुलन आदत बन जाए, स्वभाव में सम्मिलित हो जाए, तो समझना चाहिए कि व्यक्तित्व की स्थिरता और सुखद संभावना समाप्त ही हो चली। ऐसे असंतुलनग्रस्त मनुष्य प्रायः अर्द्धविक्षिप्तों जैसी स्थिति में जिंदगी गुजारते हैं। पग-पग पर उपहासास्पद बनते, तिरस्कृत होते और असफल रहते देखे जाते हैं।

मानसिक असंतुलन को परिस्थितिजन्य माना जाता है और कहा जाता है—अपना क्या कसूर है? घटनाक्रम ही ऐसा बन गया कि उत्तेजना या खिन्नता का शिकार बनना पड़ा। तर्क सीधा-सा है और सही भी प्रतीत होता है, किंतु वास्तविकता वैसी है नहीं। एक ही परिस्थिति की विभिन्न व्यक्तियों पर प्रतिक्रिया देखी जाती है। तनिक-सी प्रतिकूलता आने पर एक व्यक्ति बेहद घबराता और उत्तेजित होते देखा जाता है, जबकि दूसरा व्यक्ति ठीक वैसी ही अथवा उससे भी अधिक प्रतिकूलता में अपना संतुलन यथावत बनाए रखता है। उसे जीवनक्रम का साधारण-सा उतार-चढ़ाव मानता है और घबराने की तनिक भी आवश्यकता अनुभव नहीं

करता। उसकी प्रतिक्रिया गड़बड़ी को सुधारने के लिए उपाय सोचने, काम करने और साधन जुटाने में संलग्न होने की होती है। घबराहट उत्पन्न करके असंतुलन की नई विपत्ति को न्योत बुलाना उसे मूर्खतापूर्ण लगता है। अस्तु, स्वयं परेशान होने और दूसरों को परेशान करने वाली अस्त-व्यस्तता पर वह अपने सहज विवेक से नियंत्रण कर लेता है। इस घबराने और बिना घबराने वाले दोनों व्यक्तियों के सामने परिस्थिति एक जैसी होते हुए भी मन:स्थिति में जमीन-आसमान जैसा अंतर पाया जाता है। यह आत्मनियंत्रण का, दृष्टिकोण के परिमार्जन का प्रतिफल है। एक उससे वंचित रहता और दूसरा उसका संचय करके हँसता-मुस्कराता रहता है और आएदिन उत्पन्न होती रहने वाली प्रतिकूलताओं को ऐसे ही मजाक-मसखरी में उपेक्षापूर्वक उतार ही नहीं देता। दूरदर्शी विवेक को अक्षुण्ण बनाए रहकर, उनका समाधान भी सरलतापूर्वक कर लेता है।

मस्तिष्क को ठंढा बनाए रहना, उस पर आवेशों का आक्रमण न होने देना एक महत्त्वपूर्ण साज-सँभाल है। घड़ी, साइकिल आदि छोटी मशीनों की साज-सँभाल रखी जाती है, तो मस्तिष्क को क्षतिग्रस्त होने से क्यों नहीं बचाया जाता है, जबकि दवाओं और खाद्य-पदार्थों को ठंढा रखा जाता है, ठंढी छाया में बैठकर काम करने का प्रबंध किया जाता है तो मस्तिष्कीय शांति बनाए रखने की आवश्यकता क्यों न समझी जाए। संतुलन बनाए रखना एक अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्ण उपाय है, जिसमें सुखी रहने और सफल होने के दोनों उद्देश्य प्राप्त किए जा सकते हैं।

न खीजें—न उद्विग्न हों

सामान्यत: मनोयोग दिखाई नहीं पड़ते। उनकी हानि प्रत्यक्ष नहीं होती। ध्यान देने पर समझ आती है। साधारणत: तो ऐसा लगता है कि मानसिक रोगी ढीठता दिखाता है और उच्छृंखलता भर बरतता है। यह प्रतीत ही नहीं होता कि यह किसी विकृति से ग्रसित होने के कारण अपनी भौतिक क्षमता गँवाता और विकृतियों के दलदल में फँसता चला जा रहा है। जब रोग का आभास नहीं, तो उसका इलाज कौन करे? कई बार महिलाओं की बीमारियों को बहानेबाजी कहकर टाल दिया जाता है। मानसिक रोगों की बात तो इसीलिए भी उपेक्षा में पड़ी रहती है कि उनकी उपस्थिति की कोई जानकारी तक सर्वसाधारण को नहीं है। फिर भी यह एक तथ्य है कि मानसिक रोगों से मनुष्य समाज का अहित होता है व शारीरिक बीमारियों से होने वाली हानि की तुलना में किसी भी प्रकार कम भयंकर नहीं हैं। शरीर के पीड़ित या अपंग रहते संसार के असंख्य व्यक्तियों ने अति महत्त्वपूर्ण काम करने में सफलताएँ पाई हैं, पर ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं हुआ, जो मानसिक दृष्टि से अपंग होने पर कुछ कहने लायक सफलता प्राप्त कर सका हो। सच तो यह है कि ऐसे लोग अपनी-अपनी जीवनयात्रा तक शांति और सम्मानपूर्वक पूरी नहीं कर पाते।

महर्षि अष्टावक्र आठ जगह से कुबड़े थे, चाणक्य को अति कुरूप कहा जाता है। सुकरात की कुरूपता भी प्रख्यात है। आद्य शंकराचार्य भगंदर के फोड़े से ग्रसित थे। सूरदास अंधे थे। कुमारी केलर गूँगी, बहरी और अंधी होते हुए भी अनेक भाषाओं और विषयों की स्नातक थी। ऐसे असंख्य प्रसंग हैं, जिनमें अस्पतालों के बिस्तरों पर पड़े-पड़े लोगों ने महान कृतियाँ तैयार की हैं। शरीर एक उपकरण है, पर मस्तिष्क की स्थिति सूत्र संचालक की है। मस्तिष्क लड़खड़ा जाने पर तो मनुष्य अपने और साथियों के लिए भार बन जाता है, जबकि अंधे और अपंग भी अपनी उपस्थिति से परिवार को कई तरह लाभान्वित करते रहते हैं।

पूर्ण पागलों की संख्या तो संसार में इस अनुपात में बढ़ रही है, जिसे देखते हुए संसार को सभी बीमारियों की दौड़ उससे पीछे रह गई है। फिरने वाले पागलों की संख्या और उनके द्वारा जनसाधारण की होने वाली असुविधा ऐसी है, जिसे दूर करने के लिए पागलखानों की बड़ी संख्या में आवश्यकता अनुभव की जा रही है। जेलखानों से भी अधिक पागलखानों के लिए स्थान बनें, तब उपद्रवी पागलों द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले संकटों से बचा जा सकता है। अधपगले, सनकी, असंतुलित, अस्त-व्यस्त, अव्यवस्थित, अदूरदर्शी लागों की संख्या तो इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से सही मनुष्यों की संख्या सामान्य आबादी का एक छोटा अंश ही मिल सकेगा। शारीरिक दृष्टि से जितने लोग रुग्ण हैं, मानसिक विकृतियों से ग्रसितों की संख्या उससे कम नहीं, अधिक ही मिलेगी। यह अधूरे और अस्त-व्यस्त मनुष्य मानव समाज की प्रगति एवं सुव्यवस्था में अवरोध ही कहे जा सकते हैं। खेद इस बात का है कि गरीबी, बीमारी, अशिक्षा, अपराधी, उद्दंडता से भी अधिक कष्टदायक और भयानक बढ़ती हुई विक्षिप्तता की हानि को समझने और उसकी रोकथाम करने के लिए प्रयत्न नहीं किया जा रहा है।

अपराध भी वस्तुतः एक प्रकार का आवेश है, जिन्हें मनुष्य एक प्रकार से उन्माद ग्रसित स्थिति में करता है। चोर, उचक्के अपने कुकृत्यों की कहानियाँ समझते हैं, उन पर पछताते भी हैं, भलमनसाहत के रास्ते पर चलने पर लोग कितनी उन्नति कर गए और कितने सम्मानित हुए यह तथ्य वे आँखों से देखते और कानों से सुनते हैं। दूसरे उन्हें समझाते और वे बात को समझते भी हैं कुछ समय उनका विवेक जाग्रत भी रहता है और भले आदमियों की तरह रहते भी हैं, फिर कभी ऐसी उमंग उठती है कि रोके नहीं रुकती, यहाँ तक कि व्यक्ति उस छोड़े हुए कार्य को करने के लिए एक प्रकार से विवश ही हो जाता है और फिर उसे कर ही गुजरता है। नशेबाजी की हालत भी प्रायः ऐसी ही होती है। बीड़ी-सिगरेट तो शौक-मौज के लिए भी चलती है, पर शराब, गाँजा,

भाँग, चरस, अफीम की लत पड़ जाने से पैसे की, शरीर की, सम्मान की कितनी क्षति होती है, उसे वे प्रत्यक्ष देखते हैं, भली प्रकार समझते हैं। छोड़ने के संकल्प-विकल्प रोज ही मन में उठते रहते हैं। समझाने पर लज्जित भी होते हैं और दुखी भी, पर अपने आपको विवश पाते हैं, कोई अंधड़ भीतर से ऐसा उठता है कि ज्ञान-विवेक को एक ओर पटककर वह करा लेता है, जिसे करने की कुछ भी आवश्यकता न थी। समाजशास्त्री इसे धृष्टता, दुष्टता आदि का नाम दे सकते हैं, पर मन:रोग शास्त्र की दृष्टि से यह उस व्यक्ति की असहाय स्थिति है। ठीक वैसी ही जैसी ज्वर या सिर दरद से आक्रांत मुनष्य की होती है। अपराध करने की दिशा में जिनके मन मचलते रहते हैं, उन्हें मन:शास्त्र की भाषा में 'सादू को पैथ' कहा जाता है। विश्लेषण करने पर उनकी मन:स्थिति सामान्य लोगों जैसी नहीं होती, वरन आसामान्य और असंतुलित पाई जाती है।

मानसिक दृष्टि से संतुलन और सामंजस्य ही स्वस्थता का चिह्न है। मस्तिष्क के भीतर अगणित घटक हैं और वे एक-दूसरे के साथ सुसंबद्ध रहकर ही संयुक्त सहयोग से उत्पन्न क्षमता द्वारा अपने हिस्से से कार्य ठीक तरह पूरे कर पाते हैं। यदि उनकी सुसंबद्धता कहीं लड़खड़ाती है और तालमेल बिगड़ता है तो फिर चित्र-विचित्र प्रकार के छोटे-बड़े मानसिक रोग आरंभ हो जाते हैं। संतुलन के चार पक्ष हैं—(१) एफैक्ट—सतर्कता, सजगता (२) थाट—विचार-प्रवाह, कल्पना, (३) बिहेवियर—व्यवहार, अभ्यास, (४) मूड-रुझान, उत्साह। इनमें से किसका संतुलन, किसके सम्मिश्रण क्षेत्र में कितनी मात्रा में गड़बड़ाया इसी आधार पर मन:रोगी के अनेक स्वरूप बनते और लक्षण प्रतीत होते हैं। इसके लक्षण इस प्रकार देखे जाते हैं—

(१) सतर्कता के अभाव में मनुष्य यह निर्णय नहीं कर पाता कि लोग उसकी क्रिया के बारे में क्या कहेंगे, क्या सोचेंगे? किस कार्य का परिणाम उसके लिए क्या होगा? अपनी मरजी ही उसे सब कुछ लगती है। लोगों की प्रतिक्रिया एवं क्रिया के परिणाम उसे

सूझते ही नहीं। कल्पना की दौड़ दूर तक नहीं जाती। वर्तमान समय और अपना मन इन दो में ही वह उलझकर रह जाता है। फलतः ऐसे कृत्य करता है, जो उपहासास्पद भी होते हैं, बेतुके और हानिकारक भी, इनके करने से आर्थिक हानि भले ही उतनी न होती हो, पर दूसरे उसके अटपटेपन को देखकर उसे मंदगति या बालबुद्धि मान लेते हैं और उसके द्वारा किसी उत्तरदायित्व के निभाए जाने की आशा छोड़ देते हैं। शिष्टाचार का निर्वाह वह नहीं कर पाते। अटपटेपन से लोगों के लिए व्यंग्य-विनोद के माध्यम मात्र बने रहते हैं। लोग उन्हें कुछ उल्लू बनाने में, चिढ़ाने में रस लेकर अपना और दूसरों का मनोरंजन करते रहते हैं। सतर्कता-विहीन व्यक्ति इस बात से भी अपरिचित ही बने रहते हैं कि उनके बारे में क्या सोचा और क्या माना जाता है?

(२) विचार प्रवाह में गड़बड़ी पड़ जाने से कल्पनाएँ अनियंत्रित हो जाती हैं। क्या सोचना उपयुक्त है क्या नहीं? क्या संभव है या असंभव? साधनों और परिस्थितियों का ज्ञान न रहने से वे अपनी हर कल्पना को सरलतापूर्वक संभव हो सकने योग्य मान बैठे रहते हैं। यह भी अनुमान नहीं लगा पाते कि इन कल्पनाओं को पूरा करने के लिए कितना समय लगेगा और क्या साधन जुटाने होंगे। कल्पना और असफलता के बीच वे किसी अंतर-अवरोध का अनुमान नहीं लगा पाते, फलतः पूरे लोक में विचरण करने वाले बालकों जैसी उनकी मनःस्थिति रहती है। बहुचर्चित शेखचिल्ली संभवतः इसी प्रकार के मनोरोगों से ग्रसित रहे होंगे। ऐसे लोग उलटा सोचने लगें, तो सामान्य दैनिक कृत्यों तक के लिए अपने को असमर्थ पाते हैं और दूसरों की सहायता बिना कुछ भी करने की हिम्मत गँवा देते हैं। नैतिक और अनैतिक, सामाजिक और असामाजिक चिंतन का अंतर झीना पड़ जाने से वे ऐसा सोचते और कहते पाए जाते हैं, जिससे सुनने वालों को भी लज्जा आती है।

(३) व्यवहार अनुमान तंत्र में गड़बड़ी होने से मनुष्य के लिए यह अनुमान लगाना कठिन पड़ता है कि दूसरे लोगों का व्यवहार उनके साथ कैसा और किस उद्‌देश्य से प्रेरित है। शत्रुओं को

मित्रवत मानने का पागलपन भी कई बार पाया जाता है। विशेषत: उठती हुई आयु की लड़कियाँ प्रेम-प्रसंग में इस प्रकार की मान्यताएँ गढ़ लेती हैं, जिनमें कि हर दृष्टि से उनका अहित करने पर उतारू तथाकथित प्रेमी उन्हें अपना सर्वस्व दीखता है और उससे विरत होने की सीख किसी परम हितैषी की भी नहीं मानती, पर यह भूल प्राय: निषेधात्मक ही होती है। अमुक व्यक्ति अपने शत्रु बने हुए हैं, जादू-टोना कर रहे हैं। मारने, जहर देने, मिटा देने जैसे षड्यंत्र रचे हुए हैं, जैसी मान्यता बना लेते हैं और निरंतर भयभीत रहते हैं, कितनों को ही दुर्घटना, मृत्यु आक्रमण, हानि, विद्रोह, जेल आदि का भय सताता रहता है, ऐसे लोग यह भी निर्णय नहीं कर पाते कि किस कठिनाई का निराकरण किस प्रकार करना चाहिए; किन समस्याओं का समाधान किससे पूछना चाहिए, वे प्रधानमंत्री से छोटे अधिकारी तक अपनी फरियाद नहीं पहुँचाना चाहते हैं और उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना आए दिन उन्हें पत्र लिखते रहते हैं। दूसरे की स्थिति और क्षमता का भी उन्हें ठीक अंदाजा नहीं रहता और उनके संबंध में कुछ-से-कुछ मान्यता बना लेते हैं। इसी प्रकार अपने को भी कई बार कोई सिद्धपुरुष, नेता, विद्वान, राजा आदि मान बैठते हैं। इस वस्तुस्थिति का सही अनुमान न लगा पाने की मन:स्थिति वाले रोगियों को पैरेनोइया या मैंग्लोमोनिया से ग्रसित कहा जाता है। ऐसे लोग अपने संबंध में तथा समाज-संसार के संबंध में तरह-तरह के गलत अनुमान लगाते रहते हैं।

(४) मूड गड़बड़ाने से व्यक्ति नशेबाजी की स्थिति में चला जाता है, कभी तो पूरे उत्साह में प्रसन्नता में उन्हें पाया जाता है और अनावश्यक रूप से हँसते, जोश दिखाते, बड़ी-बड़ी आशाएँ प्रकट करते और कभी चिंताओं और निराशाओं से इस कदर जा डूबते हैं, मानो आसमान इन्हीं के ऊपर टूट पड़ा या टूटने वाला है। कइयों को कोई भयंकर रोग शरीर में प्रवेश कर सकने की या निकट भविष्य में होने की आशंका बन जाती है। मन:चिकित्सक इस स्थिति को मेनियक डिप्रेसिव कहते हैं, इस स्तर के लोग कई बार चुनाव जीतने, लाटरी पाने, गढ़ा खजाना खोदने, सोना बनाने की ऐसी

मान्यताएँ अपने हाथ लिए फिरते हैं, मानो यह सफलताएँ उन्हें जल्दी ही मिलने वाली हैं, देवी-देवताओं को वश में कर लेने की बात भी उनके मन पर ऐसी छाई रहती है, मानो अब उस बात में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रही।

मस्तिष्क यंत्र को प्रकृति ने जितना उपयोगी बनाया है, उतना ही उत्तम सुरक्षा का प्रबंध भी किया है, खोपड़ी की हड्डी को मजबूत डिब्बी में सँभालकर रखा गया है, उसके भीतर ही ऐसी व्यवस्था है, जहाँ छोटी-मोटी गड़बड़ी की पहुँच न हो सके, आमतौर से मस्तिष्क को सही सोचने का सही तरीका न मालूम होने से गड़बड़ी उत्पन्न होती है। अनाड़ी ड्राइवर के हाथ में सौंपी हुई मोटर की तथा अनभिज्ञ प्रयोक्ता के कारण कीमती कंप्यूटर की बरबादी ही होती है। वे उनसे सही काम तो ले नहीं पाते, यही बात मस्तिष्क के यंत्र के संबंध में भी है, वह जितना बहुमूल्य है, उतना ही प्रयोक्ता की कुशलता भी चाहता है। जीवन में भली-बुरी घटनाओं का प्रिय-अप्रिय प्रसंगों का ताना-बाना चलता ही रहता है। बात का बतंगड़ बनाकर यदि संतुलन गँवा दिया जाए, तो उससे आवेशपूर्ण स्थिति का दुष्परिणाम ही होगा। आवेशों और उत्तेजनाओं का मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कई बार न करने लायक कल्पनाएँ करने और साधनों के अभाव में उनकी पूर्ति न हो सकने के कारण असफल रहने पर कई लोग बौखला जाते हैं और उस उत्तेजना की गरमी से मस्तिष्क की कोमलता को जला देते हैं, अनैतिक विचार अपनी प्रकृति के अनुसार स्वत: ही घातक होते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, भय आदि का प्रभाव भी मन:संस्थान पर बुरा पड़ता है। ये विकृतियाँ इसलिए उत्पन्न होती हैं कि मनुष्य को सही दृष्टिकोण अपनाकर समस्याओं परिस्थितियों के साथ तालमेल बैठाने का अनुभव अध्यात्म के तत्त्वज्ञान से जुड़ा हुआ है। यदि उसे अपनाया जा सके, तो संसार में फैले हुए पागलपन और असंतुलन से छुटकारा मिल सकता है।

हमारा सबसे निकटवर्ती शत्रु–क्रोध

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में कई व्यक्तियों के नित्य संपर्क में आना पड़ता है और विभिन्न परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इनमें से कुछ व्यक्तियों का व्यवहार या कुछ परिस्थितियाँ मन को अनुकूल प्रतीत होती हैं और कुछ प्रतिकूल। अनुकूल व्यवहार अथवा परिस्थितियाँ पाकर सुखी होना स्वाभाविक है, उसी प्रकार प्रतिकूल व्यवहार या परिस्थितियाँ पाकर क्षोभ भी होता है, बहुधा यह क्षोभ इतनी उत्तेजना उत्पन्न करता है कि व्यक्ति अपने पूरे आवेग से उन परिस्थितियों को नष्ट कर देने के लिए चढ़ दौड़ता है। यह आवेग कई बार इतना तीव्र होता है कि व्यक्ति अपनी समझ–बूझ और विवेक को ताक पर रखकर अपनी शक्तियों को नष्ट–भ्रष्ट करने लगता है। इस प्रकार की आवेगपूर्ण स्थिति को क्रोध भी कह सकते हैं।

क्रोध के समय व्यक्ति यह भूल जाता है कि क्या उचित है और क्या अनुचित? इस स्थिति में क्रुद्ध व्यक्ति अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को बड़ी बुरी तरह नष्ट कर डालता है। जब किसी व्यक्ति पर क्रुद्ध हुआ जाता है, कोई व्यक्ति दूसरे पर या परिस्थितियों पर क्रोध करता है, तो वह दूसरे व्यक्ति में भी संचरित हो जाता है और ऐसी दशा में लड़ाई से लेकर आत्मघात जैसी स्थितियाँ बन जाती हैं।

क्रोध के संबंध में अब तक किए गए अध्ययनों के अनुसार एक स्वस्थ, शांत व्यक्ति की तुलना में कमजोर, दुर्बल और तनावग्रस्त व्यक्ति ज्यादा क्रोधित होता है। कहावत प्रसिद्ध भी है कि 'कम कुव्वत गुस्सा बहुत।' वैसे नीतिशास्त्रियों के अनुसार क्रोध करने की आवश्यकता भी है, किंतु नीतिकारों ने जिस क्रोध को आवश्यक बताया है, उसके संबंध में यह भी लिखा है कि वह विवेकपूर्ण

होना चाहिए। यदि क्रोध को पूरा त्याग दिया जाए, तो अनीति, अन्याय का विरोध, दुष्ट तत्त्वों का दमन और असुरता का प्रतिकार किस प्रकार संभव होगा? मनीषियों ने अनीति, अन्याय, दुष्टता और असुरता का प्रतिरोध करने के लिए सात्त्विक क्रोध का उपदेश किया है, पर मनोविकार के रूप में जिस क्रोध की यहाँ चर्चा की जा रही है, वह निश्चित ही अमंगलकारी और हानिप्रद है। कवि वाणभट्ट ने इस मनोविकार के संबंध में कहा है—"अति क्रोधी मनुष्य आँख वाला होते हुए भी अंधा ही होता है।" वाल्मीकि रामायण में कहा गया है—"क्रोध प्राणों को लेने वाला शत्रु है। वह अत्यंत तीक्ष्ण धार वाली तलवार के समान है और सर्वनाश की ओर ले जाने वाली राह है।"

क्रोध का मन की दूसरी दुःखकारी भावनाओं से गहरा संबंध है। यदि क्रोध शीघ्र समाप्त हो जाए, तो उससे होने वाली शक्ति का क्षरण तत्काल रुक जाता है, पर यदि क्रोध मन की गहराइयों में पहुँचकर जम जाए तो यह बैर की भावनाएँ बन जाती हैं और दूसरों के गुण, प्रेम, भावना उच्च संस्कार सब भूलकर प्रतिपक्षी का नुकसान करने, दूसरे को हानि पहुँचाने की बुरी भावना निरंतर सताती रहती है। चिकित्साविज्ञानियों के अनुसार जब क्रोध आता है तो शरीर की आंतरिक तथा बाह्य क्रियाएँ सभी प्रभावित होती हैं। इस स्थिति में कुछ रसायनों की उत्पत्ति अधिक होने लगती है और कुछ की कम। फलतः शरीर स्वास्थ्य को बुरी तरह क्षति पहुँचती है।

क्रोध आते ही शरीर की मांसपेशियाँ खिंचने लगती हैं। हाथ और पैर की मांसपेशियों में तो विशेष रूप से खिंचाव आता है, क्योंकि लड़ाई की स्थिति में इन्हीं अंगों को सबसे ज्यादा जोखिम उठाना पड़ता है। चेहरे पर भी खिंचाव आने लगता है। मांसपेशियों के खिंचाव का परिणाम पूरे शरीर पर पड़ता है और हाथ-पैर तथा चेहरे के अतिरिक्त अन्य अंग भी खिंचने-सिकुड़ने लगते हैं। इसके अतिरिक्त क्रोध की अवस्था में श्वसन भी बहुत प्रभाावित होता है। वैज्ञानिकों के अनुसार यह सब इस कारण होता है कि क्रोध की

अवस्था में शरीर की ऊर्जा का तेजी से क्षरण होने लगता है। इस क्षरित ऊर्जा की पूर्ति के लिए श्वसन क्रिया तीव्र हो जाती है। फेफड़े पहले की अपेक्षा अधिक क्रियाशील होने लगते हैं और साँस की गति बढ़ जाती है। साँस की गति बढ़ जाने से तेजी से साँस लेने और तेजी से साँस छोड़ने के कारण शरीर में ऑक्सीजन की मात्रा अधिक पहुँचने लगती है, जो वहाँ उपस्थिति भोजन से अतिरिक्त ऊर्जा का अवशोषण करती है।

क्रोध की स्थिति में शरीर अपनी सुरक्षा-व्यवस्था के अनुसार विभिन्न परिवर्तन करता है। उस समय यकृत भी अधिक मात्रा में ग्लाइकोजिन निकालने लगता है। इस प्रकार जो अतिरिक्त ऊर्जा का क्षरण होता है, उसकी पूर्ति यदि न की जाए तो शरीर में कई विकार और रोग पनपने लगते हैं। उदाहरण के लिए ज्यादा क्रोध करने वालों को रक्तचाप तथा हृदय संबंधी रोग होने की संभावना बहुत बढ़ जाती है। यह तो सभी जानते हैं कि जब क्रोध आता है, तो हृदय की धड़कन आम स्थिति की अपेक्षा कई गुना अधिक बढ़ जाती है और हृदय पर पूर्वापेक्षा अधिक दबाव पड़ता है। इस स्थिति में हृदय की धड़कन बढ़ जाने के कारण शरीर में रक्त का परिभ्रमण भी पहले की अपेक्षा ज्यादा होने लगता है।

क्रोध की स्थिति में पाचन क्रिया भी विशेष रूप से प्रभावित होती है। एक प्रकार से उस समय तो पाचन-संस्थान अपना काम करना ही बंद कर देता है। उदर तथा आंत्र की क्रियाशीलता उस समय अत्यंत मंद पड़ जाती है। इस संबंध में किए गए अध्ययनों से यह निष्कर्ष सामने आए हैं कि अगर गुस्से की स्थिति में कुछ भी खाया जाए, तो उसका पाचन नहीं होता है, बल्कि उस समय पेट में जो भोजन रहता है, उसका पचना बंद हो जाता है। कई लोगों को इसी कारण अत्यंत क्रोध की अवस्था में उलटियाँ होने लगती हैं। जी मिचलाने, उबकाई आने और पेट में भारीपन अनुभव होने की शिकायत तो बहुतों को होती है।

क्रोध की अवस्था में यह भी देखा गया है कि मुँह एकदम सूख जाता है। उस समय मुँह के भीतर लार बनने की प्रक्रिया एकदम मंद पड़ जाती है। यही कारण है कि गुस्सा उतर जाने के बाद बहुतों को जोर की प्यास लगती है। कई लोग तो क्रोध की स्थिति में ही पानी पीते हैं। पानी पी-पीकर कोसने की उक्ति सर्वविदित है। इस अवस्था में ठीक से बोलते भी नहीं बनता, क्योंकि मुँह की वे ग्रंथियाँ जो बोलने में विशेष रूप से सहायक होती हैं, अकड़ने-जकड़ने लगती हैं और उस कारण शब्दों का उच्चारण ठीक से नहीं हो पाता। 'त' के स्थान पर 'ट', 'प' के स्थान पर 'फ' जैसे शब्दों का उच्चारण न चाहते हुए भी हो जाता है।

आँखों पर भी क्रोध का प्रभाव पड़ता है। उस समय आँख की दृष्टि सीमा में फैलाव आ जाता है। यही कारण है कि बहुत अधिक क्रोध करने वालों को कई नेत्र रोग उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर के विशेष अंगों पर क्रोध के प्रभाव की ही यहाँ चर्चा की गई है। वस्तुतः तो पूरा शरीर ही क्रोध से प्रभावित होता है और उस स्थिति का हजारों नसों पर दबाव पड़ता है। तंत्रिका तंत्र भी इससे प्रभावित होता है।

इस सर्वनाशकारी क्रोध पर कैसे नियंत्रण किया जाए? बहुधा देखा गया है कि क्रोध न करने का संकल्प लेने के बावजूद भी कई बार ऐसी परिस्थितियाँ बन जाती हैं, जब सारे संकल्प-विकल्पों को तोड़कर क्रोध का आवेश उमड़ आता है। शांत मनःस्थिति में ही यह अनुभव होता है कि क्रोध आया था।

क्रोधी व्यक्ति जब किसी पर क्रुद्ध होकर उसका कुछ बिगाड़ नहीं पाता तो अपने पर क्रोध करने लगता है, अपने को दंड देने और अपनी ही हानि करने लगता है। क्रोध मनुष्य को पागल की स्थिति में पहुँचा देता है। बुद्धिमान और मनीषी व्यक्ति क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध का आक्रमण अपने पर नहीं होने देते। वे विवेक का सहारा लेकर उसे अनिष्टकर

आवेग पर नियंत्रण कर लेते हैं और इस प्रकार अपनी हानि से बच जाते हैं।

प्रचेता एक ऋषि के पुत्र थे। स्वयं भी शोधक थे, वेद-वेदांग के ज्ञाता थे। संयम और नियम से रहते थे। दिन-अनुदिन तप संचय कर रहे थे, किंतु उनका स्वभाव बड़ा क्रोधी था। उन्होंने क्रोध को एक व्यसन बना लिया था और जब-तब उससे हानि उठाते रहते थे, किंतु न जाने वे अपनी इस दुर्बलता को दूर क्यों नहीं कर पाते थे? इस दुरभिसंधि की अपेक्षा करने से होता यह था कि एक लंबी साधना से प्रचेता जो आध्यात्मिक शक्ति संचय करते थे, वह किसी कारण से क्रोध करके नष्ट कर लेते थे। इसलिए साधना में रत रहते हुए भी वे उन्नति के नाम पर यथास्थान ही रहते थे। होना तो यह चाहिए था कि अपनी इस अप्रगति का कारण खोजते और उसको दूर करते, लेकिन वे स्वयं पर ही इस अप्रगति से क्रुद्ध रहा करते थे। अस्तु, एक मानसिक तनाव बना रहने से उनका स्वभाव खराब हो गया था और वे जरा-जरा-सी बात पर उत्तेजित हो उठते थे।

एक बार वे एक वीथिका से गुजर रहे थे। उसी समय दूसरी ओर से कल्याणपद नाम का एक और व्यक्ति आ गया। दोनों एक-दूसरे के सामने आ गए। पथ बहुत संकरा था। एक के राह छोड़े बिना दूसरा जा नहीं सकता था, लेकिन कोई भी रास्ता छोड़ने को तैयार न हुआ और हठपूर्वक आमने-सामने खड़े रहे। थोड़ी देर खड़े रहने पर उन दोनों ने हटना-न-हटना प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। अजीब स्थिति पैदा हो गई।

यहाँ पर समस्या का हल यही था कि जो व्यक्ति अपने को दूसरे से अधिक सभ्य, शिष्ट और समझदार समझता होता, तो वह हटकर रास्ता दे देता और यही उसकी श्रेष्ठता का प्रमाण होता। निश्चित था कि प्रचेता कल्याणपाद से श्रेष्ठ थे। एक साधक थे और आध्यात्मिक उन्नति में लगे थे। कल्याणपाद एक धृष्ट और ढीठ व्यक्ति था, यदि ऐसा न होता तो एक महात्मा को रास्ता तो

देता ही साथ ही नमन भी करता। प्रचेता को यह बात समझ लेनी चाहिए थी, किंतु कुस्वभाव के कारण उन्होंने वैसा नहीं किया, बल्कि उसी के स्तर पर उतरकर अड़ गए। कुछ देर दोनों खड़े रहे, पर फिर प्रचेता को क्रोध हो आया। उन्होंने उसे शाप दे दिया कि राक्षस हो जाए। तप के प्रभाव से कल्याणपाद राक्षस बन गया और प्रचेता को ही खा गया। क्रोध से विनष्ट प्रभाव हुए प्रचेता अपनी रक्षा न कर सके।

क्रोध अपने आप तो पैदा नहीं होता। वह अपनी मानव संतान के समान अपने से ही पैदा होता और अपना ही नाश करता है। ऐसी संतान से दूर रहने में ही भलाई है। क्रोध एक प्रकार की आवेशजन्य स्थिति है, जो व्यक्ति को रुग्ण बनाती है, उसका सम्मान गिराती है। क्रोध अनीति के प्रति तो आना ही चाहिए, किंतु वह विवेक से जुड़ा हो और सोद्‌देश्य हो। क्रोधी व्यक्ति बिना अपनी शालीनता खोए भी अपना आक्रोश व्यक्त कर सकता है। इससे अपनी सम्मान रक्षा तो है ही, अनीति के प्रतिकार का दायित्व भी पूरा होता है। यही एक सज्जन के जीवन की रीति–नीति होनी चाहिए।

□

असंतुलन के दुष्परिणाम एवं निराकरण के उपाय

जीवन में प्राय: रोज ही एक तरह की घटनाएँ घटित होती हैं, जिनमें से कुछ के कारण प्रफुल्लता और आह्लाद फूट पड़ने लगता है तथा कुछ को देखकर क्षोभ होने लगता है। जो घटनाएँ स्वयं से संबंध रखती हैं, उनमें से कई घटनाओं के कारण खेद, क्षोभ, क्रोध, उत्तेजना, दु:ख, विषाद और रोष जैसे भाव उत्पन्न होने लगते हैं। इन भावनाओं को जिनके कारण शरीर तंत्र उतेजित हो उठता है—संवेग कहते हैं और इनकी प्रतिक्रिया का केंद्र मस्तिष्क होता है।

मस्तिष्क चूँकि सारे शरीर का नियंत्रणकर्त्ता और संचालक है। अत: वहाँ होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव भी निश्चित रूप से शरीर पर पड़ता है। इन मानसिक संवेगों का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है ? मनोवैज्ञानिकों के लिए यह सदा से ही अनुसंधान का विषय रहा है और इस दिशा में जो खोजें की गईं, उनमें विभिन्न शारीरिक समस्याओं को सुलझाने में भी सहायता मिली।

संवेदना और भावनाओं में आने वाली उत्तेजना के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले तनाव में पिट्यूटरी तथा एड्रेनल ग्रंथियों द्वारा सोमोटोट्राफिक हार्मोन तथा डेसोक्साइकोर्टि कोस्टेरौन नामक हार्मोन उत्सर्जित होते हैं। फलत: तनाव के कारण सिरदरद, उच्च रक्तचाप, रुमेटिक अर्थराइटिस, गेस्ट्रिक अल्सर, हृदयरोग तथा अन्य कितने ही विकार रोग उत्पन्न होते हैं।

क्रोध, घृणा, कुंठा अथवा निराशा के रूप में मानसिक तनाव या दबाव के कारण न केवल भोजन देर में पचता है, वरन उससे पेट की अन्य गड़बड़ियाँ भी उत्पन्न होती हैं, यहाँ तक कि अल्सर भी और आदमी में वृद्धावस्था के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

शरीर-संस्थान पर मनोविकारों के ऐसे कितने ही दुष्प्रभाव पड़ते हैं और उन सभी मनोविकारों में क्रोध सर्वाधिक विषैला तथा तुरंत प्रभाव डालने वाला मनोविकार है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डॉ० कैनन ने संवेगों के मनुष्य शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करने के लिए अनेकों प्रयोग किए और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पाचन रस और अंत:स्राव पर संवेगों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। जब संवेग तीव्र होता है, तो अंत:स्राव कम होने लगता है और पाचन क्रिया में गड़बड़ी होने लगती है। जब संवेग ठीक रहते हैं, तो पाचन क्रिया भी ठीक-ठाक चलने लगती है। अंत:स्राव किस परिमाण में होता है—यह संवेगों का स्वभाव पर ही निर्भर करता है। भय का संवेग तीव्र होने पर इसका प्रभाव कम परिमाण में होता है और क्रोध का संवेग तीव्र होने पर अधिक।

क्रोध चूँकि एक उत्तेजनात्मक आवेग है, अत: इसका कुछ प्रभाव तो तुरंत ही देखा जा सकता है, जैसे आँखों में लाल डोरे तन जाते हैं, शरीर काँपने लगता है, हृदय की धड़कनें बढ़ जाती हैं आदि। क्रोध के कारण होने वाली शारीरिक शक्ति ह्रास को जानने के लिए डॉ० अरोल और डॉ० केनन ने अनेक परीक्षण किए और इस परिणाम पर पहुँचे कि क्रोध के कारण उत्पन्न होने वाली विषाक्त शर्करा पाचन शक्ति के लिए सबसे खतरनाक है। यह रक्त को विकृत कर शरीर में पीलापन, नसों में तनाव, कटिशूल आदि पैदा कर देती है। क्रोधाभिभूत माँ का दूध पिलाने पर बच्चे के पेट में मरोड़ होने लगती है और हमेशा चिड़चिड़ी रहने वाली माँ का दूध कभी-कभी तो इतना विषाक्त हो जाता है कि बच्चे को जीर्णरोग तक हो जाते हैं।

क्रोध से शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है, तो मानसिक शक्ति भी क्षरित होती है। अमेरिका के प्रसिद्ध मनोचिकित्सक डॉ० जे० एस्टर ने क्रोध के कारण होने वाली मानसिक शक्ति के ह्रास के संबंध में कहा है—'पंद्रह मिनट क्रोध के रहने से मनुष्य की जितनी शक्ति नष्ट होती है, उससे यह साधारण अवस्था में नौ

घंटे कड़ी मेहनत कर सकता है। शक्ति का नाश करने के साथ क्रोध शरीर और चेहरे पर अपना प्रभाव छोड़कर उसके स्वास्थ्य व सौंदर्य को भी नष्ट कर देता है। ऐसे व्यक्ति में जवानी में ही बुढ़ापे के चिह्न प्रकट हो जाते हैं।'

क्रोध का कारण बताते हुए गीता में कहा गया है—'**कामात् क्रोधाभिऽजायते।**' कामनाओं में विक्षेप होने पर उस विक्षेप के कारण क्रोध उत्पन्न होता है। तीन-चार महीने के बच्चे को यदि कोई थप्पड़ मार दे, तो उस थप्पड़ की पीड़ा से वह रो उठेगा, किंतु उठे हुए हाथ और स्वयं की पीड़ा का अंतर्संबंध उसे ज्ञात नहीं रहता, इस हाथ से थप्पड़ मारे जाने के कारण मुझे पीड़ा हो रही है, यह जानकारी उसे नहीं रहती, इसलिए उसके रुदन में क्रोध का आवेग नहीं रहता। इस प्रकार क्रोध दुःख, कष्ट के कारण का बोध होता है। अपनी हानि या दुःख का कोई कारण उपस्थित होने पर क्रोध का आवेग पैदा हो जाता है। अपने मनोरथों को विफल कर सकने वाले अभीष्ट-प्राप्ति के मार्ग में बाधक का स्पष्ट परिचय पाकर क्रोध उदित होता है। यह क्रोध का सामान्य स्वरूप हुआ। किंतु मनुष्य की भी प्रतिक्रिया सरल यंत्रवत नहीं होती। इसीलिए क्रोध के स्वरूप और उसकी अभिव्यक्ति के ढंग, दोनों में बहुतेरी भिन्नताएँ होती हैं।

क्रोध मस्तिष्क में उभर पड़ने वाला एक आवेग विशेष है। मस्तिष्कीय संरचना कुछ ऐसी है कि जिस भी आवेग का उसमें बार-बार उदय हो, उसके संस्कार गहरे होते जाते हैं और फिर वह आवेग स्वभाव का अंग बन जाता है। एक ही बाधक विषय-वस्तु के प्रति दो लोगों की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न ही हैं—एक क्रोध से लाल-पीला होकर मरने-मारने पर उतारू हो जाएगा, दूसरा उस बाधा के निवारण का गंभीर प्रयास प्रारंभ कर देगा। यह भिन्नता मस्तिष्क में पड़ गए संस्कारों की ही है। असफलता प्राप्त होने पर जब क्रुद्ध होने की ही प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है, तो फिर यह क्रोध उस बाधक तत्त्व के प्रति ही सीमाबद्ध नहीं

रहता, अपितु संपर्क में आने वाले लोगों से अकारण क्रुद्ध व्यवहार का प्रेरक बन बैठता है।

मन की जटिलताएँ भी मनुष्य के क्रोधी स्वभाव का कारण होती हैं। मनुष्य अपनी मानसिक जटिलताओं में उलझा उद्विग्न रहा करता है और यह उद्वेग जिस–तिस पर क्रोध बनकर बरस पड़ता है।

इस प्रकार मोटेतौर पर क्रोध के तीन वर्ग गिनाए जा सकते हैं—(१) कामना–पूर्ति में अवरोधक–बाधक विषय के प्रति क्रोध, जो बाधक को हानि पहुँचाने की भावना से जुटा रहता है।

(२) असफलता से क्रुद्ध मनःस्थिति में संपर्क में आए अन्य व्यक्तियों पर कारणवश या अकारण ही व्यक्त होने वाला क्रोध।

(३) लंबे अभ्यास से व्यसन–सा बन चुका क्रोध, जो स्वभाव का स्थायी अंग बन जाता है।

पहले प्रकार का क्रोध लोक–व्यवहार में सर्वाधिक स्वाभाविक माना जाता है। सामाजिक जीवन में उसे एक तरह की स्वीकृति प्राप्त है, किंतु क्रोध एक विचार मात्र नहीं है, वह एक भावावेग है। उसका संपूर्ण शरीर–संस्थान और मनःसंस्थान पर प्रभाव पड़ता है। प्रथम तो बाधक को हानि पहुँचाने की जो भावना है, वह भी परिणाम में अपने पक्ष में कभी–कभार ही जा पाती है। संभव है जिसे हानि पहुँचाने का प्रयास किया जा रहा है, वही कल भिन्न अवसर पर अपने लिए उपयोगी सिद्ध हो। हमारी कामना–पूर्ति में वह बाधक बनता दीख रहा है, किंतु कल को वही कामना हमें महत्त्वहीन लग सकती है और किसी अधिक महत्त्वपूर्ण कामना में आज का बाधक सहायक के रूप में सामने आ सकता है।

इससे भी बड़ी बात यह है कि क्रोध में दुःख या हानि के कारण को नष्ट कर देने की या क्षतिग्रस्त कर देने की भावना इतनी तेजी से उमड़ती है कि अपनी भूल या दोष की ओर तो ध्यान ही नहीं जाता, जो करने जा रहे हैं, उसके परिणाम का भी विचार नहीं आ पाता। ऐसी स्थिति में कई बार पूर्व में हो गई हानि के साथ ही

क्रोध में किए कामों से और बड़ी हानि हो जाती है। जैसे कोई सुने कि उसका शत्रु १०-१२ लठैतों के साथ उसे मारने आ रहा है और वह चट क्रुद्ध होकर उस शत्रु को मारने अकेला दौड़ पड़े, बिना शत्रु की शक्ति का विचार एवं अपनी सुरक्षा की व्यवस्था किए, तो परिणाम में उसे ही प्राण गँवाने पड़ सकते हैं। बाधक को हानि पहुँचाने की इस भावना में जब अपनी मर्यादाओं को भुलाकर व्यक्ति कुछ कर गुजरने को तैयार हो जाता है, तो प्रायः अपनी हानि ही उसे सहनी-उठानी पड़ती है।

क्रोध मन को उत्तेजित और खिंची हुई अवस्था में रख देता है। इससे शरीर में भी तनाव आ जाता है, रक्त-संचालन तीव्र हो उठता है और अनावश्यक गरमी शरीर में आ जाती है, विचार-शक्ति शिथिल हो जाती है। तीव्र रक्त-संचालन से चेहरा तमतमा उठता है, होठ फड़कने लगते हैं, आँखें लाल हो उठती हैं। भीतरी अवयवों पर भी ऐसा ही अनिष्ट और दूषित प्रभाव पड़ता है। हृदय-स्पंदन तेज हो जता है, आँतों का पानी गरमी में सूखने लगता है। पाचन-क्रिया शिथिल पड़ जाती है, रक्त में एक प्रकार का विष उत्पन्न होता है, जो जीवनी शक्ति को क्षीण कर देता है। एड्रीनल ग्रंथियों से क्रोध की स्थिति में जो हारमोन्स स्रवित होते हैं, वे रक्त के साथ मिलकर जिगर में पहुँचते हैं और वहाँ जगे ग्लाइकोजन को शर्करा में बदल देते हैं। यह अतिरिक्त शक्कर शरीर पर विघातक प्रभाव डालती है। इस प्रकार क्रोध से बाधक-तत्त्व की हानि हो या नहीं अपनी हानि अवश्य होती है। क्रोध के कारण की तो कोई क्षति कभी-कभी ही होती है, क्रोधी व्यक्ति की स्वयं की क्षति हर बार होती है।

फिर कामनाएँ भी बहुरंगी होती हैं। किसी की प्रत्येक कामना की पूर्ति असंभव तो है ही अनुचित भी है, क्योंकि उनमें से कई दूसरी कामनाओं के विरुद्ध होती हैं। किसी एक की सब कामनाएँ पूरी हो जाने का वरदान यदि मिल जाए, तो उसमें अनेकों की अनेक कामनाएँ विफल होने का शाप भी सम्मिलित होना

चाहिए। इसलिए अपने प्रत्येक कामना-पूर्ति को आवश्यक मानने और उसमें बाधा उत्पन्न होते ही क्रोध से भड़क उठने की मन:स्थिति को अपरिपक्व और क्षुद्र ही कहा जाएगा। फिर उस क्रोध की प्रतिक्रिया में औरों का भी क्रोध भड़क उठने की संभावना और उस संभावना के परिणामों का सामना करने को भी तैयार रहना चाहिए।

क्रोध के अधिकांश कारण तो अत्यंत सामान्य व छोटे होते हैं। कई बार तो वे सर्वथा आधारहीन ही दिखाई पड़ते हैं। ऐसे भी समाचार सुनने में आते रहते हैं कि किसी छोटे फल वाले से उधार फल माँगे या रिक्शे वाले से मुफ्त में बैठाकर घुमाने को कहा और पहले के पैसे बाकी होने से फल वाले ने अथवा आजीविका में व्यस्त रिक्शे वाले ने नाहीं कर दी तो क्रोध में उनकी ऐसी पिटाई की गई कि वे मर ही गए। यह अविवेकी क्रोध और उन्मत्त अहंकार के स्वाभाविक किंतु भयंकर परिणाम हैं। अपने इस क्षुद्र अहं और क्षणिक क्रोधोन्माद पर फाँसी या आजीवन कारावास की सजा भुगतते हुए पछताने-रोने के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं रहता। ऐसे घातक परिणामों को लक्ष्य कर ही यह कहा गया है कि क्रोधी 'अंधा' होता है। वह केवल उस ओर देखता है, जिसे वह दु:ख का कारण या अपनी कामनाओं का बाधक समझता है। उसका नाश हो, उसे हानि, दु:ख, कष्ट पहुँचे, यही क्रोधी का लक्ष्य होता है। वह लक्ष्य भी पूरा नहीं हो पाता, क्योंकि क्रोध एक अति वेगवान मनोविकार है। सोचने-विचारने का समय वह मस्तिष्क को देता ही कब है ? वह तो आँधी-तूफान की तरह पूरे मनोजगत पर सहसा छा जाता है और अनर्थकारी कार्य संपन्न कराने के बाद ही हटता है। इसीलिए तो ऋषि ने कहा है—

संचितस्यापि महती सा क्लेशेन मानवैः।
यशसस्तपसश्चैव क्रोधो नाशकरः परः॥

मनुष्य द्वारा बहुत प्रयत्नों से अर्जित यश और तप को भी क्रोध नष्ट कर डालता है। महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में कहा है—

क्रोधः प्राणहरः शत्रुः क्रोधोऽमित्रमुखो रिपुः।
क्रोधोऽस्ति महातीक्ष्णः सर्वं क्रोधोऽपकर्षति ॥
तपते यतते चैव यच्च दानं प्रयच्छति।
क्रोधेन सर्वं हरति तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत् ॥

"क्रोध प्राणहारी शत्रु है, अमित्र-मुखधर बैरी है, एक तीक्ष्ण तलवार है, यह क्रोध सब प्रकार से गिराता ही है। मनुष्य जो तप, संयम, दान आदि करता है, उस सबका क्रोध हरण कर लेता है, इसलिए क्रोध का परित्याग कर देना चाहिए।"

यह तो बाधक-तत्त्व को हानि पहुँचाने की उत्तेजना उत्पन्न करने वाले क्रोध के दुष्परिणाम हैं। जब क्रुद्ध मनःस्थिति के संपर्क में आए अन्य व्यक्तियों के प्रति रोषपूर्ण व्यवहार किया जाता है, तब वह तो सर्वथा अनुचित एवं अन्यायपूर्ण होता है। उसका परिणाम भी अधिक हानिकारक होता है। जिसे यों अकारण अपमानित किया गया है, उसके मन में अपमान का यह शूल निरंतर चुभता रहता है और उसका परिणाम हर प्रकार से अशुभ ही होता है। दफ्तर से बिगड़कर आया बाबू पत्नी को पीटकर दांपत्य-सुख में आग लगाता है, बाहर का क्रोध घर के नौकर पर उतारने वाले क्षुब्ध नौकर द्वारा छिपकर की जाने वाली चोरी, लापरवाही व क्षति को भोगते हैं। क्रुद्ध मनःस्थिति में मित्रों-परिचितों से दुर्व्यवहार करने वालों को मैत्री सुख और परिचितों की सहानुभूति से वंचित रहना पड़ता है। साथ ही निंदा व तिरस्कार भी सहना पड़ता है।

क्रोधी मनुष्य दूसरे के समर्थ—शक्तिशाली होने पर जब अपने मंतव्य में सफल नहीं हो पाता, तो वह स्वयं अपने ऊपर वैसी ही क्रिया करने लगता है, जो वह दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए करने की सोच रहा था। अपना सिर फोड़ने लगना, बाल नोंचने लगना, अंग-भंग और आत्महत्या तक कर बैठना ऐसी ही मनःस्थिति के परिणाम होते हैं।

इस प्रकार क्रोध सदैव हानिकारक ही सिद्ध होता है। यदि क्रोध आवेग के रूप में न हो, तब तो उससे कुछ प्रयोजन भी सिद्ध हो सकता है, किंतु प्रचंड भावावेग के रूप में वह सर्वनाशी ही सिद्ध होता है।

अनौचित्य को देखकर उत्पन्न होने वाले विवेक नियंत्रित क्रोध की बात भिन्न है। भारतीय मनीषियों ने उसे 'मन्यु' की संज्ञा दी है तथा दिव्यता का अंश बताया है। सामाजिक जीवन में वैसे क्रोध की जरूरत बराबर पड़ती है। दुष्टता जिनमें गहराई तक बैठ गई है, उनमें दया, विवेक आदि उत्पन्न करने में बहुत समय लगता है और तब तक वे अत्यधिक अनर्थ कर चुकते हैं। एक व्यक्ति के इस हृदय-परिवर्तन की चिर प्रतीक्षा में अनेकों के हृदय को पीड़ा पहुँचाने का क्रम सहा नहीं जा सकता। अतः उस पर क्रोध आवश्यक हो जाता है। वैसे लोक-कल्याणकारी क्रोध की—मन्यु की बात भिन्न है। उस क्रोध का जन्म उद्वेग उत्तेजना से नहीं, विवेक विचार से होता है। जन सामान्य के क्रोध में अपकार और उत्पीड़न की ही उग्रता होती है। यह क्रोध उत्तेजना और आवेश के रूप में ही उत्पन्न होता है। इससे सत्य-असत्य की विवेक-शक्ति दब जाती है और लड़ाई-झगड़ा, कटुता, मार-पीट के रूप में ही उनकी अभिव्यक्ति होती है। क्रोध का मन के दूसरे विकारों से घनिष्ठ संबंध है। अस्थिरता क्षणिता, कुंठा, उद्वेग, अहंकार, असहिष्णुता आदि उसके सहचर हैं। चिड़चिड़ापन कमजोर व्यक्तियों में उत्पन्न होने वाला क्रोध-आवेश ही है।

क्रोध के कारणों पर विचार किया जाए तो गलत जीवन-दृष्टि मन का विकृत अभ्यास तथा असात्त्विक आहार मुख्य कारण सिद्ध होते हैं। अतः क्रोधी प्रवृत्ति से मुक्ति के इच्छुक व्यक्तियों को आहार की सात्त्विकता पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। साथ ही मन को यदि ऐसा अभ्यास पड़ गया है, तो उसके दुष्परिणामों पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और सही जीवन दृष्टि अपनाने का यत्न एवं उद्योग करना चाहिए। क्रोध की बाह्य अभिव्यक्ति

दबाकर मन-ही-मन लंबे समय तक सुलगते रहना ही 'बैर' है। यह बैर क्रोध से भी भयंकर हानियाँ उत्पन्न करता है।

क्रोध सदैव जल्दबाजी का परिणाम होता है। जब कोई गलत कार्य होता दीखे या कोई हानि हो जाए, तो उसके कारण का निश्चय करने में जल्दबाजी न करें। स्मरण करें कि पहले विचार-क्रम में बहुधा कारण खोजने में चूक हो जाती है। अतः अनुचित या हानिप्रद कार्य के घटना-स्थल के इधर-उधर हट जाएँ, किसी सुरम्य उद्यान में टहलें या किसी प्रियजन के पास पहुँच जाएँ। उससे स्नेहपूर्ण बात करें कुछ न हो सके, तो एक गिलास ठंढा पानी पीएँ और क्रोध को शांत करें। इस आवेश को भड़कने देने में घाटा-ही-घाटा है। शमित करने में लाभ-ही-लाभ है। इसीलिए विश्व के समस्त धर्मशास्त्रों और नीतिग्रंथों में क्रोध को विनाशकारी और त्याज्य ही ठहराया गया है।

कई बार लगता है कि क्रोध उत्पन्न होने के लिए हम उतने जिम्मेदार नहीं हैं, जितनी कि परिस्थितियाँ। वैसी स्थिति में क्रोध पर नियंत्रण करने और उसके कारण उत्पन्न होने वाले तनाव से अपने आपको बचाए रखने के लिए क्या करना चाहिए? इस तरह की समस्याओं के मनोवैज्ञानिक समाधान सुझाते हुए अमेरिका के प्रसिद्ध मनोरोग चिकित्सक डॉ० जार्ज स्टीवन्स और डॉ० विन्सेड पील ने स्नायविक तनाव दूर करने के उपायों पर एक पुस्तक लिखी है— 'लाइफ, टेंशन एंड रिलेक्स।' इस पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर सिद्धांत रूप में तीन वाक्य लिखे हैं—'क्रोध आए तो किसी भी प्रकार के शारीरिक श्रम में लग जाओ। किसी काम का विपरीत परिणाम निकले तो स्वाध्याय या मनोरंजन में लग जाओ तथा शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए व्यायाम को अनिवार्य समझो।'

क्रोध के समान ही चिंता, दुःख, व्यथा और अन्यान्य संवेगों को नियंत्रित करना भी सीखना चाहिए। जीवन के प्रति संतुलित दृष्टिकोण अपनाने वाले व्यक्ति ही मानसिक संवेगों को तटस्थ या संतुलित भाव से ग्रहण कर सकते हैं। फिर भी किन्हीं अवसरों पर

जब अनियंत्रित संवेग उत्पन्न होने लगे तो वैसी स्थिति में शरीर पर होने वाली प्रतिक्रियाओं को जबरदस्ती दबाना नहीं चाहिए। इन प्रभावों को भी संवेगों के भार से मुक्त करने का एक अचूक उपाय बताया गया है। न्यूयार्क के एक विश्वविख्यात मनोरोग, चिकित्सक डॉ० विलियम ब्रियान ने यह मत व्यक्त किया है कि—"आँसू दु:ख, चिंता, क्लेश व मानसिक आघातों से मुक्ति दिलाने तथा मन को हलका-फुलका बनाकर आकस्मिक हुई मन:व्यथाओं को सहने में सहायता पहुँचाते हैं।" अमेरिकी औरतों का उदाहरण देते हुए डॉ० ब्रियान ने कहा है कि मर्दों की अपेक्षा औरतों की लंबी आयु का रहस्य यह है कि वे खूब रोती हैं। वे ऐसी फिल्में देखने की शौकीन हैं, जिनमें बार-बार रोना आता है। इस तरह आँसू लाने से जीवन लंबा हो जाता है, क्योंकि रोने के कारण व्यक्ति की दबी हुई भावनाओं को बड़ी राहत मिलती है। रोने के कारण दमित भावनाओं के निष्कासन से हृदय के रोगों में भी लाभ पहुँचता है।

उत्तेजना निवारण का सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि किसी भी माध्यम से उसे मन:संस्थान से निष्कासित कर दिया जाए। इसका माध्यम अशालीन व्यवहार आक्रोश के रूप में तो न हो, परंतु संवेगात्मक दबाव अपने तक सीमित न रखे, उसे किसी मित्र हितैषी के साथ अथवा आत्मप्रतिवेदन के रूप में लिखकर मिटाया जा सकता है। मन:संतुलन एक योगाभ्यास है, जो व्यक्ति को सफल बनाता है, समाज में सम्मान दिलाता है। स्वास्थ्य रूपी वरदान तो साथ मिलता ही है।

□

विचार संस्थान की सुव्यवस्था अत्यंत अनिवार्य

काया के विभिन्न अवयवों को सुंदर, सुडौल, सुसज्जित बनाने के लिए हम पूरा ध्यान रखते हैं और उस कायिक सौंदर्य-संवर्द्धन के लिए वस्त्र-आभूषण, शृंगार-प्रसाधन, पुष्प आदि जो कुछ सूझता है उसे जुटाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इससे विदित होता है कि काया और उसके विभिन्न अवयवों को अच्छी स्थिति में रखने के संबंध में हमारी सतर्कता और सुरुचि कितनी बढ़ी-चढ़ी है, पर यह देखते हैं कि यह ध्यान, देखने-दिखाने तक ही सीमित है। जो दृष्टि से ओझल है उसकी उपेक्षा ही होती रहती है, फिर चाहे वे अवयव कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों? पेट, आँतें, जिगर, गुरदे, फेफड़े, हृदय जैसे अवयव होठ, गाल, भौं, नाक आदि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उनकी सुसज्जा तो पीछे की बात है, सुरक्षा तक पर ध्यान नहीं जाता और वे अस्त-व्यस्त स्थिति में पड़े रहने के कारण रुग्ण बने रहते हैं। फलतः जीवन का आनंद ही चला जाता है, एक प्रकार से जिंदगी की लाश ही किसी प्रकार ढोनी पड़ती है।

मस्तिष्क को—उसके चेतना प्रवाह मन की गरिमा पर जब विचार किया जाता है, तो प्रतीत होता है कि जीवन का अस्तित्व स्वरूप स्तर और भविष्य भी उसी केंद्र बिंदु के साथ जुड़ा हुआ है। देखने में जो कुछ किया, कमाया और भोगा जाता है, उसमें शरीर की ही भूमिका दृष्टिगोचर होती है, पर वास्तविकता दूसरी ही है। मन ही पूरी तरह शरीर पर छाया हुआ है, उसके भीतर भी वही रमा है। विपन्नता और संपन्नता का संबंध परिस्थितियों और व्यक्तियों के साथ जोड़ा तो जाता है, पर थोड़ी गहराई में उतरने पर स्पष्ट हो जाता है कि काया की कठपुतली जो तरह-तरह की हरकतें करती और संवेदनाएँ प्रकट करती है, उसमें पर्दे के पीछे बैठे बाजीगर मन की उँगलियाँ ही अपनी करामात दिखा रही होती हैं।

स्वास्थ्य, अर्थ-व्यवस्था, परिवार-प्रबंध, श्रेय-सम्मान के लिए प्रयत्न करने में हमारी गतिविधियाँ संलग्न रहती हैं। उन्हीं प्रयासों में एक कड़ी मनःसंस्थान को सुव्यवस्थित रखने को भी जोड़ी जानी चाहिए। बालों को सुसज्जित रखने का जितना ध्यान रखा जाता है। यदि उतना ही मानसिक संतुलन बनाए रहने का ध्यान रखा जा सके तो प्रतीत होगा कि सर्वोपरि बुद्धिमत्ता और सर्वोच्च सफलताएँ प्राप्त करने का द्वार खुल गया। मन के हारे हार है और मन के जीते जीत वाली उक्ति की यथार्थता में रत्ती भर भी संदेह की गुंजाइश नहीं है।

मस्तिष्क की तुलना एक अच्छे-खासे बिजलीघर से की जा सकती है, उसकी उत्पादित शक्ति का वितरण तंत्र-नर्वस सिस्टम-स्मस्त शरीर में होता है और उसी की शक्ति से समस्त अवयव अपना-अपना काम ठीक प्रकार कर पाते हैं। मस्तिष्कीय विद्युत उत्पादन का जितना भाग समस्त शरीर को गतिशील रखने में खरच होता है, उससे कुछ ही कम अपनी निज की मशीनरी को चलाने और खुराक जुटाने एवं टूट-फूट करने में खप जाता है। चिंतन अथवा हलचलों के लिए हम जान-बूझकर कुछ भी नहीं करें, तो भी मस्तिष्क स्वयमेव चालू रहेगा। उसे सोते-जागते विश्राम कभी नहीं, सोचने-विचारने वाला भाग कुछ समय तक नींद में विश्राम भी पा लेता है, पर अवयवों को गतिशील एवं जीवित रहने वाला अचेतन भाग तो जन्म से लेकर मरणपर्यंत अनवरत रूप से कार्य संलग्न रहता है।

सोचने या काम करने में मस्तिष्कीय शक्ति का सीमित, संतुलित एवं व्यवस्थित व्यय होता है, किंतु मानसिक उत्तेजनाओं की स्थिति में शक्ति व्यय का अनुमान अत्यधिक बढ़ जाता है। चूल्हे में ईंधन सीमित जलता है, पर ईंधन के ढेर में आग लग जाने पर तो ऊँची लपटें उठने लगती हैं और देखते-देखते उतना ईंधन जलकर खाक हो जाता है, जिससे महीनों चूल्हा जलता रहता घबराहट, चिंता, भय, शोक, उदासी जैसी मनःस्थिति होने पर

गिरावट स्तर की खिन्नता होती है और क्रोध, आवेश, कामुकता, आतुरता जैसे प्रसंगों में उत्तेजित प्रतिक्रिया उभरती है। दोनों ही परिस्थितियों से मानसिक संतुलन बिगड़ता है। ज्वार हो या भाटा—दोनों ही परिस्थितियों में समुद्र में समान उथल–पुथल होती है। खिन्नता एवं प्रसन्नता की अति से जो आवेश मनःक्षेत्र में उत्पन्न होता है, उसके कारण सही चिंतन कर सकना और निष्कर्ष निकाल सकना संभव नहीं रहता। थका हुआ आदमी असफलताओं की निराशाजनक बातें सोचता और नशे में धुत्त व्यक्ति दूर की हाँकता है। जिसे कुछ विशेष उपलब्धियाँ मिल गई हैं, वह फूला नहीं समाता और धरती जोतने जैस मनसूबे बाँधता है। लो ब्लड प्रेशर और हाई ब्लड प्रेशर के लक्षण भिन्न–भिन्न हैं, पर कष्ट दोनों ही व्याधियों के रोगी समान रूप से भुगतते हैं।

शरीर और मन का अन्योन्याश्रित संबंध है। मन प्रसन्न हो तो शरीर में सक्रियता रहेगी और यदि खिन्नता छाई हो तो क्रियाशीलता में ही कमी नहीं आएगी, वरन उसके साथ अस्त–व्यस्तता जुड़ जाने से जो थोड़ा–बहुत काम किया गया था, वह भी गलत–सलत हो जाएगा और उसका नुकसान न करने से भी अधिक महँगा पड़ेगा।

मनःस्थिति का नाम ही मूड है। मूड अनुकूल हो तो आदमी काम पर सवार रहेगा और यदि वह प्रतिकूल हो तो काम आदमी पर सवार रहेगा। दोनों परिस्थितियों में कितना अंतर है, इसका परिचय प्राप्त करना हो, तो एक उस आदमी को देखा जाए जो घोड़े पर सवार होकर तेजी से सफर कर रहा है। दूसरा वह आदमी देखा जाए, जिसके जिम्मे मरा घोड़ा ढोकर या घसीटकर ले जाने का काम सौंपा गया है। दोनों अपनी प्रसन्नता के अनुरूप ही वे सौभाग्य–दुर्भाग्य का अनुमान लगा रहे होंगे उसी अनुपात से उनके उत्साह एवं बल में भी घट–बढ़ का अंतर पड़ रहा होगा।

मन कुछ काम तो अपने आप ही कर लेता है, कुछ उसे इंद्रियों की सहायता से कराने पड़ते हैं। चिंतन, मनन, ध्यान, कल्पना,

योजना, निष्कर्ष, निश्चय आदि क्रियाएँ वह अपने आप ही कर लेता है। चलना-फिरना, खाना-पीना, देखना-सुनना, बोलना जैसे कार्य उसे इंद्रियों की सहायता से कराने पड़ते हैं।

इंद्रियाँ देखने भर में स्वतंत्र हैं, उनका स्थान मस्तिष्क से दूर है तथा बनावट भी भिन्न है, इसमें उनकी भिन्नता अनुभव की जाती है, पर तथ्य यह है कि वे सभी मन के बाजीगर द्वारा उँगली के इशारों पर चलाई जाने वाली कठपुतलियाँ भर हैं। अधिक-से-अधिक इतना कह सकते हैं मानो वे महाराज की रखैल नर्तकी हैं, जिन्हें अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह के खेल और स्वाँग रचने पड़ते हैं। इंद्रियों की बुरी आदतों से कई प्रकार की हानियाँ होती हैं। चटोरपन, कामुकता, आलस, दुर्व्यसन जैसे कृत्यों के लिए इंद्रियों को दोष दिया जाता है और उनका नियंत्रण निग्रह करने की बात सोची जाती है। यह जड़ का ध्यान रखकर पत्ते को सींचने के समान है। इंद्रिय निग्रह के स्थानीय अभ्यास प्रायः असफल रहते हैं। कामुकता की प्रवृत्ति को लँगोट-बाँधने के प्रतिबंध से नहीं रोका जा सकता है। प्रतिबंध से प्रत्यक्ष रुक सकते हैं, पर भीतर से उनकी लिप्सा झलकती रहे, तो अंतःशक्तियों का क्षरण इंद्रिय भोग जितना ही होता रहेगा। पानी का सोता रोका जाना चाहिए। मेड़ बाँधने पर तो वह एक जगह रुकते ही दूसरी जगह फूट पड़ेगा। इंद्रिय निग्रह की आवश्यकता अनुभव हो तो स्थानीय रोकथाम की बात सोचने के साथ लिप्साओं के उद्‌गम मन पर नियंत्रण करना चाहिए। इंद्रिय निग्रह की सफलता मनोनिग्रह पर निर्भर है।

कुसंस्कारी मन कच्चे पारे की तरह है। वहीं सुसंस्कारी बना लिए जाने पर मकरध्वज जैसे पारद रसायनों के रूप में विकसित होता है, तो गुणकारी रसायन का काम करता है। कच्चा पारा तो भयंकर शरीर विस्फोट एवं मरण का निमित्त ही बन सकता है। मन की गुलामी बुरे किस्म की पराधीनता है। गुलाम सोने खाने जैसे समय तो अवकाश प्राप्त कर लेते हैं, पर मन के गुलाम को दिन-

ात में कभी भी चैन नहीं। स्वतंत्रतापूर्वक वह कुछ भी कर सकना तो दूर सोच तक नहीं सकता।

बंध-मोक्ष का, पतन-उत्थान का आधारभूत कारण मन है। परिस्थितियों को बहुधा श्रेय या दोष दिया जाता है, वह लांछन मात्र है। यदि परिस्थितियाँ कारण रही होतीं, तो उन परिस्थितियों के रहने वाले सभी न सही अधिकांश को तो एक जैसा मार्ग अपनाना चाहिए था, पर वैसा होता कहाँ है? अच्छी-से-अच्छी परिस्थितियों के लोग समस्त सुविधा साधन होते हुए भी बुरे-से-बुरे कर्म करते हैं। इसके विपरीत भारी विपत्ति में फँसे हुए और अभावग्रस्त स्थिति में रहते हुए भी कितने ही लोग अपनी नैतिकता और सदाशयता बनाए रहते हैं। वास्तविक कारण मन का स्तर है, वह अपनी निकृष्टता एवं उत्कृष्टता के अनुरूप मनुष्य की गतिविधियों को इच्छित दिशा में घसीटता चला जाता है।

मन को अवांछित चिंतन से बचाना तथा सदैव परिस्थिति से तालमेल बैठाने जैसी स्थिति में बनाए रखना भी एक कला है। मानवी गरिमा इसी में है कि मानव योनि के उपयुक्त श्रेष्ठ चिंतन एवं सत्कार्यों से भरा जीवन जिया जाए। यह एक विडंबना ही है कि इस विभूति का समुचित उपयोग नहीं बन पाता।

प्रसिद्ध विचारक और चिंतक डॉक्टर बाल्टर टौपेल ने लिखा है, "केवल मनुष्य ही रोता हुआ पैदा होता है, शिकायत करता हुआ जीता है और मरता है।" अन्य प्राणियों को जीवन में न तो कोई परेशानी होती है और न समस्याएँ। मनुष्य विचारशील और भाव-प्रवण होने के कारण छोटी-छोटी घटनाओं से भी प्रभावित होता है तथा उन पर अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है। ये प्रतिक्रियाएँ अनुकूल कम होती हैं और प्रतिकूल अधिक।

समाज के प्रत्येक वर्ग में प्रत्येक स्थिति के व्यक्ति का यदि विश्लेषण किया जाए, तो प्रतीत होगा कि हर कोई कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी कष्ट या समस्या से पीड़ित है। निर्धन व्यक्ति अपनी गरीबी से पीड़ित है तो समृद्ध और किन्हीं कारणों से। कोई

भौतिक सुख-सुविधाओं से परेशान है तो कोई मानसिक शांति न मिलने से, आज के समय में तो ये समस्याएँ और भी अधिक जटिल हो गई हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ और भी नई-नई समस्याएँ उत्पन्न होने लगी हैं। आज की मशीनी सभ्यता ने मनुष्य के लिए जो नई समस्याएँ उत्पन्न की हैं, उनमें प्रमुख है—मानसिक तनाव। यों चिंताएँ, विक्षोभ दबाव और असफलता का दुःख मनुष्य को सदा से परेशान करते हैं, पर विगत कुछ दशाब्दियों में मानसिक तनाव के कारण कई ऐसे रोग फैलने लगे हैं, जिनका कारण शरीर में खोजे भी नहीं मिल पाता है। ऐसे रोगों को अँगरेजी में 'साइकोसोमैटिक' रोग कहा जाता है।

चिकित्सा विज्ञान की नई-नई शोधों और उपचार पद्धतियों के बल पर कुछ दशकों में जहाँ कई पुरानी बीमारियों पर पूरी तरह नियंत्रण प्राप्त कर लिया गया था, वहीं अब कुछ ऐसे रोग बड़ी तेजी से फैल रहे हैं, जिनका पहले कभी नाम भी नहीं सुना गया था। विशेषज्ञों के अनुसार उन रोगों को सभ्यता के राजरोग कहा जाता है। उनका कहना है कि मन पर पड़ने वाले दबावों और मानसिक तनाव के कारण ही ये रोग उत्पन्न होते हैं।

विज्ञान की भाषा में मन शरीर का कोई अवयव नहीं है। वैज्ञानिकों के अनुसार जिसे मन कहा जाता है, वह मस्तिष्क की शक्तियों का ही विशिष्ट प्रकार से होने वाला प्रक्षेपण है। मनुष्य शरीर के द्वारा संपन्न होने वाली सभी गतिविधियों क्रिया-कलापों का संचालन मन द्वारा होता है-यह तो सर्वविदित है। शरीर के द्वारा कुछ कार्य तो मनुष्य अपनी इच्छानुसार करता है जैसे—चलना, उठना-बैठना, लिखना-पढ़ना आदि। इनके अतिरिक्त शरीर में कई ऐसी प्रक्रियाएँ भी चलती रहती हैं, जिनका मनुष्य अपनी इच्छानुसार नियंत्रण नहीं कर सकता। जैसे पाचन क्रिया, रक्त परिभ्रमण, हृदय स्पंदन, नाड़ी चलना आदि। इन प्रक्रियाओं का नियंत्रण मस्तिष्क के जिस भाग द्वारा होता है, उसे हाईपैथोल्मष कहते हैं। इस केंद्र से चलकर स्नायु पथ के द्वारा अनैच्छिक गतिविधियाँ चलती हैं।

इसके भी दो भाग हैं—एक को पैरासिंथेटिक कहा जाता है तथा दूसरे को सिंथैटिक। पहला पाचन, पोषण और शुद्धिकरण जैसे कार्य करता है तथा दूसरा भाग प्राणी को विशिष्ट परिस्थितियों से निपटने की क्षमता प्रदान करता है। तनाव या दबाव के समय मस्तिष्क का यह हिस्सा सक्रिय हो उठता है। जैसे खतरा प्रस्तुत होने पर इसके कारण रक्तचाप बढ़ जाता है, दिल की धड़कन तेज हो जाती है, हृदय से अत्यधिक रक्त प्रवाहित होने लगता है, भीतरी अवयवों से हटकर रक्त–मांसपेशियों की ओर आने लगता है, रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है और शरीर से एड्रिनेलिन नामक रसायन भी प्रवाहित होने लगता है। यह सब परिवर्तन अन्य संकटों से जूझने के लिए होते हैं, किंतु जब साधारण–सी बातों को लेकर भी चिंतित हुआ जाने लगता है तो भी यही परिवर्तन होते हैं।

भावनाओं की शरीर पर क्या प्रतिक्रिया होती है? इसका यह एक छोटा–सा उदाहरण है। प्रकृति ने भावनाओं का शरीर से यह संबंध विशिष्ट उद्‌देश्य से जोड़ा है। वह उद्‌देश्य यह है कि प्राणी का शरीर परिस्थितियों के अनुरूप ढल सके। कुछ घटनाओं और भावनाओं की शरीर पर होने वाली प्रतिक्रियाओं को समझा जा सकता है। डर के कारण पेशाब छूट जाना, घबराहट से पसीना छूटना, चिंता के कारण भूख न लगना, गुस्से में होने पर चेहरा तमतमा उठना, परेशानी से नींद न आना और लज्जा के मारे लाल हो जाना, चेहरा झुका लेना आदि स्थितियाँ दरसाती हैं कि भावनाओं का प्रभाव मनुष्य शरीर के रक्त–प्रवाह और अंदरूनी हलचलों पर अनिवार्य रूप से पड़ता है।

पसीना छूटने से पता चलता है कि भावनाएँ शरीर की उन ग्रंथियों को प्रभावित करती हैं, जो पसीना छोड़ने का काम करती हैं। बहुत बुरी खबर सुनने या मानसिक आघात पहुँचने पर घबरा उठने के साथ मूर्च्छित तक हो जाने की स्थिति दरसाती है कि मस्तिष्क का क्रिया–कलाप भी भावनाओं से प्रभावित है। ये सब स्थितियाँ इस बात की द्योतक हैं कि परिस्थितियाँ, भावनाओं को जन्म देती हैं

और भावनाएँ शारीरिक प्रक्रियाओं को। परिस्थिति विशेष से निपटने के लिए शरीर में होने वाले ये परिवर्तन प्रकृति की बहुत ही उपयोगी व्यवस्था होती है।

परंतु कई बार अकारण ही व्यर्थ की चिंताएँ होती हैं और उन स्थितियों में भी यही परिवर्तन होने लगते हैं। लंबे समय तक यही स्थिति बनी रहे तो मनुष्य शरीर कई रोगों से आक्रांत हो जाता है। आधुनिक सभ्यता में जीवन-क्रम की तेज गतिशीलता और कदम-कदम पर प्रतिस्पर्द्धा की आपा-धापी भी मस्तिष्क में मिथ्या आशंकाओं, भय और गुत्थियों को जन्म देती है। वैसी दशा में मस्तिष्क के आदेश से शरीर में वैसी प्रक्रिया होने लगती है, जैसी कि वास्तविक संकट के समय होती है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि इस तरह की प्रक्रियाएँ अपेक्षाकृत कम तीव्र होती हैं, परंतु वे लंबे समय तक चलती हैं। जब वास्तविक संकट सामने होता है, तब तो ये प्रतिक्रियाएँ जितनी तेजी से शुरू होती हैं, उतनी ही तेजी से संकट दूर हो जाने पर अपने आप समाप्त हो जाती हैं। लेकिन वास्तविक और अमूर्त संकट से उत्पन्न प्रक्रिया भले ही तीव्र न हो, पर धीमे-धीमे शरीर में चलती जाती हैं तथा उससे शरीर को नुकसान पहुँचता है। उदाहरण के लिए वास्तविक संकट उत्पन्न होने के कारण हृदय की गति बढ़ जाती है और संकट समाप्त होते ही पुनः स्वाभाविक स्थिति में आ जाती हैं, किंतु मनोकल्पित आशंका से हृदय गति कुछ तेजी से ही धड़कती है। ऐसी आशंकाओं का कोई आधार तो होता नहीं, अतः ये आशंकाएँ भी लंबे समय तक चलती रहती हैं और हृदयगति भी निरंतर बढ़ी हुई रहने लगती है, जो शारीरिक व्याधि का रूप धारण कर लेती है। उपरोक्त ढंग से बढ़ी हुई हृदय की गति के रोग को ''टैकी कार्डिया'' कहा जाता है।

इसी प्रकार संकट के समय मस्तिष्क रक्त-प्रवाह को आमाशय से हटाकर ऊपरी मांसपेशियों की ओर मोड़ देता है। ऐसे क्षणों में घबराहट से जी मिचलाने लगता और उबकाई आने लगती हैं। यह प्रक्रिया मिथ्या भय के कारण भी होती है और

अवास्तविक भय के कारण भी यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। ऐसी स्थिति में वह खट्टी डकारें आने, जी मिचलाना जैसे लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

ये सब लक्षण रोग के प्रतीत होते हैं और लगता है, शरीर स्वास्थ्य में कोई खराबी आ गई है, परंतु वास्तव में इनकी जड़ मन के भीतर होती है। व्यक्ति इस बात को नहीं समझता और मानसिक कारणों को यथावत रखते हुए रोग की भी चिंता करने लगता है। जितना ही वह रोग के बारे में सोचता जाता है, उतना ही रोग बढ़ता नजर आने लगता है और दोहरी समस्या बन जाती है।

इस तरह मानसजन्य रोगों की एक लंबी सूची है और विज्ञान भी यह मानने लगा है कि ६५ प्रतिशत रोगों का कारण इस तरह की मानसिक अपरिपक्वता ही है। व्यक्तित्व में प्रौढ़ता का अभाव ही मानसजन्य शारीरिक रोगों का कारण बनती है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो निरंतर किन्हीं बातों को लेकर चिंतित रहना, गलत-सलत शंका-कुशंकाएँ करते रहना और व्यर्थ के वहम पालना मानवीय मस्तिष्क को अत्यांतिक तनावग्रस्त कर देते हैं। तनाव का बहुत अधिक बढ़ जाना ही इस तरह के रोगों का कारण बनता है।

मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि तनाव जीवन का एक अनिवार्य अंग है, परंतु वह सीमा से अधिक हो जाता है, तो मस्तिष्क और शरीर पर बुरा प्रभाव डालने लगता है। सिएटल के वाशिंगटन विश्वविद्यालय में चिकित्सा विभाग के प्रधान डॉ० होम्स ने हाल ही में लंबे समय तक शोध और अनुसंधान के बाद यह प्रतिपादित किया है कि सक्रिय जीवन व्यतीत करते हुए कोई भी व्यक्ति तनाव से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकता। उनका कहना है कि एक ही तरह की घटनाएँ अलग-अलग अनुपात से तनाव का कारण बनती हैं। उन्होंने ऐसी विभिन्न घटनाओं की तथा घटकों की एक लंबी सूची बनाई जिसके कारण मानसिक तनाव उत्पन्न होता तथा इन घटनाओं के लिए अंक निर्धारित किए और कहा कि वर्ष में २०० अंकों से अधिक

तनावपूर्ण स्थितियों में स्वास्थ्य के लिए खतरा उत्पन्न हो सकता है।

डॉ० होम्स ने जीवनसाथी की मृत्यु से लेकर रहन-सहन में परिवर्तन और यहाँ तक कि सोने की आदतों में बदलाव तक भी तनाव का कारण बताया है। यह बात अलग है कि कौन व्यक्ति इन घटनाओं से कितना तनाव अनुभव करता है। इस तनाव से पूर्णत: छुटकारा नहीं पाया जा सकता और न ही इसके लिए चिंता करने की कोई आवश्यकता है। परंपरा ने मनुष्य शरीर और मन को इस योग्य बनाया है कि वह दैनंदिन जीवन में आने वाले तनाव को झेल सके। समस्या उत्पन्न तब होती है, जब मनुष्य साधारण घटनाओं को भी आवश्यक से अधिक महत्त्व देने लगता है। इस स्थिति से बचने का एक ही उपाय है कि मनुष्य अपनी सीमाओं और सामर्थ्यों को सही ढंग से पहचाने तथा उनके अनुसार अपना जीवनक्रम बनाए। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक और डॉ० सोलिए के अनुसार अपनी सामर्थ्य के अनुसार तनाव झेलना स्वास्थ्य के लिए अच्छा ही है।

लेकिन सामर्थ्य से अधिक तनाव बढ़ता प्रतीत हो तो डॉ० सोलिए ने उसके लिए श्रम को सबसे बड़ा उपचार बताया है। अपने आप को व्यस्त रखना अनेक प्रकार की समस्याओं के साथ मानसिक तनाव से मुक्त होने का भी अचूक उपाय है। महत्त्वाकांक्षाओं और क्षमताओं में सामंजस्य भी तनाव की संभावना को बहुत कम कर देता है। अपनी स्थिति से ऊँचा उठने और उन्नति के चरम शिखर को छूने की इच्छा हर किसी में रहती है। निश्चितता को ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिए, पर उसके लिए अधैर्य या व्यग्रता से काम नहीं लेना चाहिए। सीढ़ी-दर-सीढ़ी ही लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। डॉ० सोलिए का यह भी कहना है कि तनाव से उत्पन्न शारीरिक व्याधियों से बचने के लिए व्यक्ति का आस्थावान होना भी आवश्यक है। ईश्वर के अस्तित्व को मानने में किसी को आपत्ति भी हो सकती है, पर कम-से-कम अपने प्रति आस्था तो रखी ही जा सकती है। अपने प्रति आस्थावान रहने के लिए आवश्यक है कि अपना सही-सही मूल्यांकन किया।

हिम्मत बटोरें—आत्महीनता छोड़ें

कहते हैं कि हाथी को अन्य प्राणी डील-डौल में उनके वास्तविक आकार-प्रकार से कहीं बड़े दिखाई देते हैं। उसकी आँख की बनावट ऐसी होती है कि वह अन्य प्राणियों का आकार कई गुना बढ़ा-चढ़ाकर देखती है, इसी कारण हाथी दूसरे प्राणियों से भयभीत रहता है और सामान्यतत: एकाएक किसी पर आक्रमण नहीं करता। यह कहावत गलत भी हो सकती है, पर यह सत्य है कि आत्महीनता की ग्रंथि से ग्रस्त व्यक्ति परिस्थितियों को उसी रूप में नहीं देखता जो वास्तव में होती हैं। अपने प्रति हीनता या अविश्वास का भाव रखने वाले लोग परिस्थितियों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखते हैं और उनसे भयभीत, आतंकित, चिंतित होते रहते हैं। इस मनोविकृति के कारण अधिकांश लोग अपने आप स्वयं ही अपना तिरस्कार करते रहते हैं और उसके अभ्यस्त बन जाते हैं।

आत्महीनता की भावना से ग्रस्त व्यक्तियों का स्वभाव दब्बूपन का बन जाता है। वे सही और उचित सामान्य बात भी किसी से नहीं कह पाते। मुँह खोलने में उन्हें डर लगा रहता है कि जिससे जो कुछ वह कहने जा रहे हैं, वह पता नहीं क्या समझ बैठे, रुष्ट न हो जाएँ, कहीं झिड़क न दें। वस्तुत: यदि ऐसा हो भी जाता है, तो सामान्यत: कोई बड़ी हानि नहीं होती, पर आत्महीनता की व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति इस सीमा तक डरे-दबे रहते हैं कि भले ही कोई हानि हो जाए, वे किसी भी स्थिति में अपनी बात को सरल सीधे ढंग से कहने का साहस नहीं जुटा पाते। आवश्यक होने पर भी कुछ न कह पाने का संकोच बरतने से इस बात की संभावना तो बनी ही रहती है कि गलतफहमियाँ पैदा हो जाएँ, व्यवहार में भ्रांतियाँ जन्म लेने लगें और इस कारण सामने वाला कुछ-का-कुछ समझकर अप्रत्याशित, अस्वाभाविक, हानिकारक व्यवहार कर बैठे। यह

स्थिति मनुष्य को निश्चित ही दयनीय स्थिति में डाल देती है और इसके कोई अन्य कारण दोषी नहीं हैं, व्यक्ति का आत्महीनता ग्रस्त स्वभाव स्वयं ही दोषी है।

विचारणीय है कि लोगों में आत्महीनता की यह भावना क्यों उत्पन्न होती है? मनःशास्त्री उसके कई कारण बताते हैं। उनके अनुसार बचपन में आवश्यक स्नेह-सम्मान न मिल पाना, माता-पिता या अभिभावकों की ओर से उपेक्षा, उपहास का कारण बनते रहना या अभावग्रस्त स्थिति में समय गुजारते रहना आदि 'ऐसे कारण जो बचपन में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं, जिनके कारण बच्चे बड़े होकर भी आत्महीनता की महाव्याधि के शिकार बनते हैं। बीमार, अपंग और मंदबुद्धि, कमजोर, बच्चे भी बार-बार डाँट-डपट सुनते हैं। फलतः उनका मन यह मान बैठता है कि उनकी स्थिति दूसरों की अपेक्षा गई-गुजरी ही है, भाग्य ही कुछ ऐसा है। पिछड़ी समझी जाने वाली जातियों के स्त्री-पुरुष आमतौर पर अपने को दूसरों की तुलना में घटिया अनुभव करते हैं और अपने सोचने-विचारने का ढंग उसी स्तर का बना लेते हैं, मानो उनको बनाते समय विधाता ने घटिया मिट्टी का ही प्रयोग किया हो।

ऐसी बात नहीं है कि आत्महीनता की यह व्याधि केवल पिछड़े और बचपन में उपेक्षित रहने वाले लोगों में ही पाई जाती है। सभ्य और शिक्षित कहे जाने वाले लोगों में भी इस व्याधि के लक्षण रूप दब्बूपन की प्रकृति पाई जाती है और वे अपने इस स्वभाव के कारण स्वयं को हेय स्थिति में डाल देते हैं। ऐसे व्यक्तियों को सहज ही पहचाना जा सकता है। आत्महीनता की ग्रंथि अकारण ही मनुष्य को आलसी, असंतुष्ट दब्बू, चापलूस तथा बात-बात पर खिन्न और क्षुब्ध होने वाले स्वभाव का बना देती है। उससे कोई भी बेगार ले सकता है, ठग सकता है। मन में वैसा न करने की बात रहते हुए भी इनकार करने की हिम्मत नहीं होती तो सामने वाले का आग्रह टालते नहीं बनता है।

इस प्रकार के दब्बूपन के अतिरिक्त आत्महीनता की विकृति उद्धत बनकर भी उभरती है और वह ऐसे कृत्य करने को उकसाती है, जिससे कि लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया जा सके, विधिवत साधारण बनने के लिए तो आवश्यक है कि व्यक्तित्व का समग्र निर्माण किया जाए और उसे आत्मविश्वास से संपन्न बनाया जाए। कहना नहीं होगा कि व्यक्तित्व का समग्र निर्माण करने को आदर्शवादी गतिविधियाँ अपनाने का साहस जुटाना पड़ता है तथा उस मार्ग पर चलते हुए परिणामों को प्राप्त करने की प्रतीक्षा कर सकें, इस स्तर का धैर्य जुटाना पड़ता है। आत्मविश्वास से रहित, आत्महीनता की व्याधि से ग्रस्त लोगों में ऐसा साहस और धैर्य जुटाने की सामर्थ्य कहाँ होती है? सो वह उद्धत आचरण करके ही लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने की रीति-नीति अपना लेता है और कई बार आपराधिक गतिविधियाँ भी अपना लेता है। यों इस तरह की गतिविधियाँ अपनाने और अपराध करने में भी हिम्मत की आवश्यकता पड़ती है, सो इस रास्ते से जल्दी सफलता मिलते देखकर हीनताग्रस्त व्यक्ति ऐसे लोगों का साथ और संग करता है, जो इन्हीं कुकृत्यों में संलग्न हैं। ऐसे आवारा लोगों का साथ पा लेने के बाद उसमें अपराध कृत्यों को करने का दुस्साहस भी उत्पन्न हो जाता है और इस अभ्यास से वह भी गुंडागर्दी में संलग्न होकर स्वयं को आत्मगौरव संपन्न अनुभव करने लगते हैं। यही कारण है कि उच्छृंखल गतिविधियाँ अपनाने वाले अवांछनीय तत्त्व निजी जीवन में थोड़ी-सी विपत्ति आते ही बुरी तरह रोने-कलपने लगते हैं। यह बात अलग है कि अवांछनीय गतिविधियाँ अपनाने के कारण वे सस्ती तरकीब से दोहरा लाभ उठाने की गतिविधियों को पेशे के रूप में अपना लेते हैं और बढ़े-चढ़े अपराध करने लगते हैं, पर मूलतः वे होते आत्महीनता की भावना के शिकार हैं।

आत्महीनता ही वह कारण है, जो स्वयं के उपेक्षित, तिरस्कृत और हेय स्तर होने का आभास देती है, साथ ही उस आभास को न

होने देने के लिए अधिक बन-ठनकर, साज-शृंगार के द्वारा दूसरे लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की प्रवृत्ति अपनाने के लिए प्रेरित करती है, ताकि बहुत-से लोगों को अपनी ओर आकर्षित हुआ देखकर हेय आभास की व्यथा कम होकर आकर्षित होने का मरहम लगाया जा सके। अधिक बन-ठन कर रहने, साज-शृंगार करने वाले व्यक्ति में निश्चित रूप से अधिकांश ऐसे ही होते हैं, जो अपने आपको तिरस्कृत, उपेक्षित एवं हेय स्तर का मानते हैं। भले ही वे अपने बारे में बढ़-चढ़कर बातें करते हों। आत्मसंस्तुति से अघाते नहीं, पर मन में बहुत गहराई में यह भावना छिपी-दबी रहती है। दूसरों के सामने अधिक आकर्षक दिखने, अमीरी का ढोंग रचने और शानोशौकत के लिए अपव्यय करने वाले लोग मूलत: औरों पर अपने बढ़े होने की छाप ही छोड़ना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति कम कीमत की मजबूत चीजें खरीदने के स्थान पर महँगी दुकानों से अधिक मूल्य वाली साधारण वस्तुएँ खरीदना ज्यादा पसंद करते हैं। इसके पीछे दूसरों पर अपने बड़प्पन का आतंक जमाने के सिवाय दूसरा कोई कारण नहीं होता। झूठे बड़प्पन की छाप छोड़ने के लिए आमदनी से अधिक खरच भी उन्हें करना पड़ता है और परिणामत: ऋणी बनना पड़ता है अथवा आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ता है।

यह तो हुई आत्महीनता की भावना को दबाने, ढकने और उसके लिए अस्वाभाविक आचरण करने वालों की स्थिति। इस मनोव्याधि से ग्रस्त व्यक्तियों में एक, दूसरे प्रकार का लक्षण भी पाया जाता है, जो आत्मघात, नशेबाजी और मनोवेगों के रूप में देखने को मिलता है। पिछले दिनों अमेरिका के एक मन:शास्त्री प्रो० हाइंज हॉफनट ने अपने एक अध्ययन सर्वेक्षण में यह पाया कि आत्महत्याओं, नशीले पदार्थों के सेवन और आत्महीनता के कारण उत्पन्न रोगों में गहन संबंध है, ये रोग या प्रवृत्तियाँ छूत के रोग की तरह हैं और परस्पर इस ढंग से संबद्ध हैं कि एक व्यक्ति यदि उनमें

से किसी एक प्रवृत्ति का शिकार है, तो उसमें दूसरी प्रवृत्ति बढ़ने की बहुत संभावना रहती है।

प्रो० हॉफनट का कहना है कि २५ वर्ष की आयु तक के युवक-युवतियाँ सबसे अधिक आत्महत्या का प्रयत्न करते हैं। इसी आयु-वर्ग में स्त्रियाँ पुरुषों से दुगनी संख्या में आत्महत्या करती हैं। २५ वर्ष की आयु से ऊपर और ५० वर्ष तक की आयु वाले स्त्री-पुरुषों में यह अनुपात लगभग बराबर है। प्रो० हॉफनट और उनके सहयोगियों ने देखा कि जो लोग आत्महत्या करते हैं, उनमें से अधिकांश किसी-न-किसी नशीले पदार्थ का सेवन करते रहे हैं। आत्महत्याओं के पारिवारिक और सामाजिक परिवेश का अध्ययन करने के बाद पाया गया है कि इन परिस्थितियों में आत्म-हत्या करने वाले लोग अपने आप को एकाकी उपेक्षित और अकेला अनुभव करते थे और उन्हीं परिस्थितियों में ऐसे लोगों की ओर आकर्षित हो जाते थे,जो किसी मादक पदार्थ का सेवन करते थे।
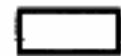
अमेरिकी और ब्रिटिश वैज्ञानिक सम्मिलित रूप से अपने एक शोध सर्वेक्षण में इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मादक द्रव्यों का आदी शीघ्र ही अपने संपर्क में आने वाले नए व्यक्ति को अपने जैसा ही बना लेता है। मजे की बात तो यह है कि स्वयं को एकाकी, उपेक्षित और अकेला अनुभव करने वाला व्यक्ति ही नशेबाजी की ओर जल्दी आकर्षित होता है तथा उस परिवेश में अपने को सुरक्षित अनुभव करने लगता अथवा आत्मविस्मरण के गहन अंधकार में डूब जाता है। यह भी देखा गया है कि मादक पदार्थों की ओर प्राय: ऐसे युवक-युवतियाँ ही अधिक आकर्षित होते हैं, जिन्हें माता-पिता से भरपूर स्नेह नहीं मिला है अथवा जो उपेक्षित रहे हैं। बचपन में इस प्रकार उपेक्षित रहने वाले व्यक्तियों में चिंताजनक रूप से आत्महीनता की भावना पाई जाती है। प्रायः यही लोग जीवन में पथभ्रष्ट होते हैं।

अपने सर्वेक्षण से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर प्रो० हॉफनट ने प्रतिपादन किया है कि जितने लोग दरिद्रता, बेकारी, पारिवारिक

कलह, असफल प्रेम, निराशा, हताशा और असाध्य बीमारी आदि कारणों से आत्मघात करते हैं। उससे भी अधिक आत्मघात वे लोग करते हैं, जो आत्महीनता की महाव्याधि से ग्रस्त रहते हैं। यही वह कारण है, जिसकी प्रतिक्रिया मानसिक संतुलन के रूप में परिलक्षित होती है और लोग छोटी-छोटी कठिनाइयों या असफलताओं को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखते हैं। ऐसे लोग ही आत्मघाती कदम उठाते हैं।

मन:शास्त्रियों के अनुसार आत्महीनता की भावना और भी न जाने कितने ही, आधि-व्याधियों की जननी है। अत: उससे छुटकारा पाना ही श्रेयस्कर है। परिस्थितियों को बढ़ा-चढ़ाकर देखने की आदत और अपने आप को दूसरों के समाने छोटा, हेय, हीन समझने का स्वभाव आत्महीनता की व्याधि का प्रमुख लक्षण है। इस व्याधि को जड़-मूल से मिटाने का उपचार सुझाते हुए मन:शास्त्री कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को उचित और अनुचित का अंतर करना आने से लोग अपने आप में इतना साहस सँजोएँ कि जो सही है, उसी को अपनाएँ और जो गलत हैं, उससे स्पष्ट इनकार कर सकें। सहमत होना और हाँ कहना अच्छी बात है, पर वह इतनी अच्छी बात नहीं है कि यदि कोई बात अनुचित लग रही है और अनुचित लगने के पर्याप्त कारण हैं, तो भी हाँ किया ही जाए और सहमत हुआ ही जाए। स्पष्ट रूप से, नि:संकोच भाव से अस्वीकार करने की हिम्मत भी रखनी चाहिए। सोच-विचार करने में यह बात भी सम्मिलित रखनी चाहिए कि हर सही-गलत बात में हाँ-हाँ करते रहने से दूसरों की दृष्टि में अपने व्यक्तित्व का वजन घट जाता है और आत्मगौरव को ठेस पहुँचती है, वह तो अलग है।

विकसित और परिष्कृत व्यक्तित्व का अर्थ है कि अपनी मान्यता को स्पष्ट किंतु नम्र और संतुलित शब्दों में व्यक्त कर पाना, जो ऐसा कर पाते हैं, वह अपना मूल्य बढ़ाते व उन्नति के पथ पर बढ़ते चले जाते हैं।

विवेक से जुड़ी भावुकता ही श्रेयस्कर

मस्तिष्क यों हर प्राणी के शरीर में होता है, परंतु सभी प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य का मस्तिष्क ही सर्वथा विकसित है। उसके बल पर ही वह संसार के सभी प्राणियों से श्रेष्ठ सिद्ध हो सका है और उन पर अपना आधिपत्य जमा सका है। मोटेतौर पर मस्तिष्क के क्रिया-कलापों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है— स्मृति, चिंतन और भावनाएँ। ये तीनों क्रियाएँ क्रमशः प्रभावशाली, महत्त्वपूर्ण और जटिल होती हैं। आलोच्य विषय का संबंध भावनाओं से है, जो सभी मनुष्यों के मस्तिष्क में जन्मती हैं। स्मृति और विचार शक्ति की दृष्टि से कोई व्यक्ति कमजोर और बलवान होते हुए भी भावना क्षेत्र में कम-ज्यादा नहीं होता। वे सभी व्यक्तियों के मस्तिष्क में जन्म लेती और बढ़ती, प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

वस्तुतः मनुष्य का सारा जीवन भावनाओं से ही संचालित होता है। दुःख और आनंद, घृणा और प्रेम, क्रोध और सहिष्णुता, कृपणता और उदारता संदेह और विश्वास आदि भावनाएँ मस्तिष्क से ही उपजती हैं तथा मनुष्य की विभिन्न गतिविधियों को संचालित, प्रेरित करती हैं। भावनाओं के क्रीड़ा-केंद्र वाला मस्तिष्क का रूप अंतःकरण भी कहा जाता है। इन भावनाओं का मनुष्य जीवन पर, उसके शरीर स्वास्थ्य और मानसिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ता है, यही मनोविज्ञान का विषय है।

शरीर और मनःस्थिति पर भावनाओं के प्रभाव को मुख्यतः दो भागों में समझा जा सकता है। पहले प्रकार की भावनाएँ वे हैं, जिनके कारण शरीर के विभिन्न भाग अतिरिक्त रूप से उत्तेजित हो उठते हैं तथा दुःख क्षोभ से लेकर रोग बीमारियों जैसे विकार उत्पन्न होने लगते हैं। दूसरी श्रेणी में उन भावनाओं को रखा जा

सकता है, जिनका प्रभाव मन:संस्थान और शरीर पर अच्छा पड़ता है। पहली श्रेणी की भावनाओं में क्रोध, चिंता, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष को रखा जा सकता है तथा दूसरी श्रेणी में आशा, उत्साह, विश्वास, प्रेम, साहस, प्रफुल्लता आदि भावनाओं को रखा जा सकता है।

पहले प्रकार की भावनाएँ शरीर में रोग और मन में बुझाहट, के लक्षण पैदा कर देती हैं, जबकि वास्तव में शरीर में रोग का कोई कारण नहीं होता, लंबे समय तक अध्ययन, परीक्षण करने के बाद मन:शास्त्री और जीवशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे स्नायुओं तथा नलिका-विहीन ग्रंथियों द्वारा शरीर को प्रभावित करती हैं। हमारे शरीर में दो प्रकार के स्नायु (नर्व्स) होते हैं, जिन्हें ऐच्छिक और अनैच्छिक स्नायु कहा जाता है, शरीर में भीतरी और बाहरी सभी क्रियाओं का संचालन स्नायुओं द्वारा ही होता है। ऐच्छिक स्नायु से हम अपनी इच्छानुसार काम लेते हैं। जैसे—उठना, बैठना, चलना, किसी चीज को पकड़ना।

अनैच्छिक स्नायुओं द्वारा होने वाले कार्यों पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता। हृदय की धड़कन, फेफड़ों द्वारा श्वसन, पाचन, संवेदन, गुरदों की क्रिया आदि अनैच्छिक स्नायुओं द्वारा ही संपादित होते हैं। भावनाओं का प्रभाव इन्हीं स्नायुओं पर होता है। इन स्नायुओं का नियंत्रण निर्देशन, मस्तिष्क में स्थिति हाइपोथैल्मष केंद्र होता है।

प्रसिद्ध शरीरशास्त्री डॉ० बर्नहोर्ट का कहना है कि हाइपोथैल्मष केंद्र भावनाओं के प्रति बहुत संवेदनशील है। फलत: भावनाओं का प्राथमिक प्रभाव शरीर के किसी भाग में होने वाली पीड़ा के रूप में होता है। उदाहरण के लिए अत्यधिक चिंता के समय सिरदरद होने लगता है। दु:खद घटना देखकर या समाचार सुनने पर चक्कर से आने लगते हैं। कोई भयावह दृश्य देखकर या अप्रत्याशित समाचार सुनकर हृदय की धड़कनें बढ़ जाती हैं। डॉ० बर्नहोर्ट का कहना है कि सिरदरद के साथ-साथ गरदन का दरद, छाती का दरद, पेट, बाहों, छातियों, पिंडलियों आदि शरीर के किसी भी स्थान में होने

वाले दरद का अस्सी प्रतिशत कारण भावनाओं द्वारा 'हाइपोथैल्मस' नामक केंद्र का प्रभावित होना है।

पेशियों में उत्पन्न होने वाली पीड़ा के अतिरिक्त भावनाएँ कई बार रक्तवाहिनी नलिकाओं को भी प्रभावित करती हैं। फलस्वरूप कई तरह के रक्त विकार उत्पन्न हो जाते हैं। पित्ती उछलना, खुजली लगना और यहाँ तक कि चिंता और परेशानी के कारण एग्जिमा जैसा चर्म रोग होने के तथ्य भी प्रकाश में आए हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि भावनाओं के प्रभाव से कोई एक प्रकार का लक्षण ही उत्पन्न हो। कई बार भिन्न-भिन्न प्रकार के लक्षण भी देखे जाते हैं। डॉ० जे० रेमंड ने अपनी पुस्तक 'डिसीज एंड रीजन' में लिखा है—"मेरे पास कई बार ऐसे रोगी आते हैं, जो तरह-तरह की शिकायतें करते हैं। कोई कहता है कि मुझे भूख नहीं लगती, किसी की तबीअत गिरी पड़ी रहती है, कोई लगातार थकावट महसूस करता है, किसी का काम में मन नहीं लगता। मैं सभी लोगों की जाँच करता हूँ। अधिकांशों के शरीर में रोग का कोई कारण नहीं होता। फिर मैं उनके रोजमर्रा के जीवन, पारिवारिक स्थिति आदि के बारे में पूछने लगता हूँ। इससे वे कुछ आत्मीयता अनुभव करते हैं और अपनी समस्याएँ तथा कठिनाइयाँ मुझे बताने लगते हैं, वहीं मैं उनके रोग का कारण पकड़ लेता हूँ। प्रायः ऐसे व्यक्ति चिंताओं, परेशानियों, समस्याओं, शंकाओं, संदेहों और कितने ही भयों से लदे रहते हैं। उनका यह भावना-क्षोभ ही उनके रोग का वास्तविक कारण होता है।

भावनाएँ स्नायुओं के अलावा शरीर को एक-दूसरे ढंग से भी प्रभावित करती हैं। शरीर के रक्त में कई तत्त्व विभिन्न नलिका-विहीन ग्रंथियों द्वारा मिलते रहते हैं। इन ग्रंथियों का पता डॉ० स्टीनाक ने सर्वप्रथम १९२० में लगाया और अपने शोध परिणाम प्रकाशित किए। इन नलिका-विहीन ग्रंथियों जिन्हें 'एंडोक्राइमग्लैंडस्' भी कहा जाता है—की खोज से मानव शरीर के अध्ययन में एक नया अध्याय खुला। पूरे शरीर में ये ग्रंथियाँ सात प्रकार की हैं, जिन्हें

पिट्यूटरी, थायरायड, पेराथायरायड, पैंक्रियाज, गोनड्स थायमस और एड्रेनल्स ग्लैंड्स कहा जाता है।

ये ग्रंथियाँ शरीर के विकास, यौवन और शक्ति को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। इनके द्वारा शरीर के सात महत्त्वपूर्ण केंद्रों पर एक विशेष स्राव (हारमोन्स) रक्त में मिलाया जाता है, जो शरीर के अंग-प्रत्यंग में पहुँचकर उन्हें प्रभावित करता है। इन ग्रंथियों द्वारा स्रवित होने वाले (हारमोन्स) बारह प्रकार के होते हैं। इस विश्लेषण में अधिक जानने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही जानना पर्याप्त होगा कि मनुष्य का पूरा शरीर और व्यक्तित्व हारमोन्स द्वारा प्रभावित होता है। शरीर जब किसी रोग के या कीटाणु के संक्रमण का शिकार होता है, तो उन ग्रंथियों से कुछ ऐसे हारमोन्स निकलते हैं, जो रक्त कणों में उनसे लड़ने की शक्ति पैदा करते हैं और स्वयं भी कीटाणुओं से संघर्ष करते हैं, फलतः रोग की अवस्था में शरीर एक युद्धभूमि बन जाता है। इसी कारण बेचैनी, क्षोभ और अशांति का अनुभव होने लगता है। चिंता, भय और परेशानियों के समय 'एंडोक्राइम ग्लैंड्स' उन्हीं हारमोन्स को स्रवित करने लगता है। संघर्ष उनका स्वभाव है, इसलिए कोई कीटाणु न मिलने पर वे रक्त में विद्यमान रक्षक तत्त्वों को ही चट करने लगते हैं। फलतः इन भावनाओं के कारण बेचैनी, परेशानी और कष्ट तो होता ही है, शरीर में रोगों को आमंत्रण भी मिलता है, क्योंकि शरीर की रक्षा-पंक्ति दुर्बल पड़ जाती है। परिणामस्वरूप शरीर कभी भी रोग का शिकार हो जाता है।

इस प्रकार की भावनाओं से कुसंस्कारी मन और विकृत धारणाओं की उपज होती है। किसी भी वस्तु या घटना को उसके सही परिप्रेक्ष्य में न दीखने, जरा-सी अप्रिय घटना को भी अपने लिए बहुत बड़ा संकट मान लेने, अत्यधिक आत्मकेंद्रित और स्वार्थपरायण जीवन व्यतीत करने के कारण इस प्रकार की दुःखद भावनाएँ व्यक्ति के मस्तिष्क में घर कर जाती हैं और वहाँ अपना अड्डा बना लेती हैं।

इसके विपरीत वस्तुओं तथा घटनाओं को उनके यथार्थ संदर्भ में देखने और सही ढंग से सोचने-समझने की आदत व्यक्ति में मंगलमय और सुखद भावनाओं को जन्म देती हैं। इसी रीति-नीति को अपनाने, चिंतन पद्धति का अभ्यास होने के बाद स्वभाव में सम्मिलित सुखद भावनाएँ सब ओर से सुख-शांति की वर्षा करती हैं। आशा, उत्साह, प्रफुल्लता और प्रेम के समय ये अंत:स्रावी ग्रंथियाँ कुछ दूसरे ही प्रकार के हारमोन्स निकालती हैं, परिणामस्वरूप उन क्षणों में शरीर को एक विशेष सुखद आभास की अनुभूति होती है। दु:खद भावनाओं के प्रभाव को प्रत्यक्ष देखना हो तो एक क्रोधित मनुष्य के चेहरे और हाव-भाव से देखा जा सकता है। मनुष्य जब क्रुद्ध होता है, तो उसका चेहरा लाल हो जाता है, आँखों के पलक चौड़े पड़ जाते हैं, नेत्रों की सफेद पुतलियाँ सुर्ख हो उठती हैं, होठ भिंच जाते हैं, जबड़ा जकड़ जाता है, हाथों की मुट्ठियाँ भिंच जाती हैं और शरीर काँपने लगता है। किसी हद तक उसकी आवाज भी अस्वाभाविक होने और लड़खड़ाने लगती है।

शरीर की स्वाभाविक स्थिति में होने वाले ये परिवर्तन तो बाहरी हैं। इनके कारण तो भीतर होने वाले परिवर्तनों में विद्यमान रहते हैं, जो इनसे अधिक और घातक होते हैं। आवेश के समय शरीर के भीतरी अंगों में कई परिवर्तन होने लगते हैं, जैसे सारे शरीर के खून में जमने की शक्ति बढ़ जाती है। प्रकृति इस प्रकार जवीन-रक्षा की पूर्व व्यवस्था करने लगती है। प्रकृति किन उपायों द्वारा जीवन की रक्षा के प्रयत्न करती है, यह जानकर विस्मय-विमुग्ध हो जाना पड़ता है। खून जमने की क्रिया प्रकृति का एक रक्षात्मक उपाय है। क्रोध के समय लड़ाई होने और चोट लगने की बहुत संभावना रहती है। स्वाभाविक है कि चोट में खून भी बहेगा ही। प्रकृति खून में पहले से ही जमाव लाने लगती है, ताकि चोट लगने पर कम-से-कम खून बहे।

इसी प्रकार रक्त परिभ्रमण क्रिया में एक परिवर्तन यह भी आता है कि उस समय 'श्वेत रक्त कण' करोड़ों की संख्या में बह

जाते हैं, जो घाव को भरने और विजातीय तत्त्वों को शरीर में प्रवेश न होने देने का काम करते हैं। क्रोध के समय पेट की पेशियाँ इतनी सख्ती से ऐंठने लगती हैं कि उसमें कोई चीज आगे न बढ़ने पाए। कुछ परिवर्तन इनसे भी गंभीर होते हैं, जैसे हृदय की गति तेज हो जाना और रक्त का दबाव बढ़ जाना। प्रकृति के ये सारे उपाय क्रोध के समय बाहरी अथवा भीतरी कारणों से होने वाली क्षति को रोकने के लिए रक्षात्मक उपाय ही हैं, परंतु यही उपाय कई बार घातक सिद्ध हो जाते हैं। रक्तचाप व हृदय की गति बढ़ जाने के कारण कई बार क्रोधित व्यक्ति तुरंत काल के ग्रास बन जाते हैं। रक्त में होने वाले परिवर्तन के कारण मस्तिष्क की रक्तवाहिनी नस फट सकती है।

भावनाएँ हर दृष्टि से जरूरी हैं। बिना सरस भाव-संवेदनाओं के मानव जीवन कैसा? परंतु अतिभावुक व्यक्ति तो एक प्रकार का मनःरोगी ही होता है। मनुष्य का सारा जीवन भावनाओं का ही खेल है। इस तंत्र का सदैव विवेक युक्त सुनियोजन हो—विकृति न आने पाए, यह ध्यान रखा जाना अत्यंत अनिवार्य है।

□

आस्था तंत्र की विकृति भी मानस रोगों के लिए उत्तरदायी

चिकित्सा विज्ञान की आधुनिक खोजें मानव शरीर की छान-बीन करती हुई मन और अंत:करण के छोर तक जा पहुँचती हैं। आज मनोविज्ञान भी चिकित्सा-विद्या के विद्यार्थियों का एक अध्ययन विषय होता है। आज वैज्ञानिक-चिकित्सक एक स्वर से यह मान रहे हैं कि शारीरिक रोगों में अच्छा-खासा हिस्सा मानसजन्य रोगों का होता है। इसीलिए आज कई असाध्य रोगों में डॉक्टर किसी रोगी के साथियों, शुभचिंतकों को आस्था चिकित्सा यानी 'फेथ-हीलिंग' की अनुमति सहर्ष दे देते हैं, जबकि कुछ वर्षों पूर्व तक इसे घोर अंध विश्वास मानकर इसके नाम पर ही शिक्षित वर्ग में उपहास और तिरस्कार का भाव तैर जाता था। इसका कारण मात्र यही है कि मनुष्य की आस्था को उसे प्रभावित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति अब पुन: माना जाने लगा है। रोगों की आस्था यदि किसी स्थान या व्यक्ति अथवा क्रिया-विशेष के प्रति गहरी हुई तो उस पर उसका लाभदायक प्रभाव अवश्यंभावी है।

आस्था-चिकित्सा (फेथ-हीलिंग) और चमत्कार से उपचार (मिरेकिल हीलिंग) की पद्धतियाँ विश्व के हर समाज तथा काल-खंड में किसी-न-किसी रूप में प्रचलित रही हैं। प्रत्येक धर्म और संप्रदाय में पूजा व आस्था के कुछ प्रतीक होते हैं। प्रतीक-पूजा और आस्था-पूजा के तत्त्व भारत समेत संपूर्ण एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया हर कहीं पाए जाते हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की आज की सर्वाधिक विकसित स्थिति वाले देश अमेरिका में इन दिनों पुन: 'फेथ-हीलिंग' अधिकाधिक लोकप्रिय हो गई है। मनोविज्ञान द्वारा व्यक्ति के अवचेतन मन की शक्ति का प्रतिपादन

और वहाँ जमीं आस्थाओं के आश्चर्यजनक परिणामों के विश्लेषण ने इस प्रक्रिया को तेज किया है।

दक्षिण-पश्चिमी फ्रांस में एक शहर है—लुर्द। यह रोमन कैथोलिकों का एक प्रमुख तीर्थस्थान है। यहाँ एक गरीब किसान परिवार में एक कन्या जन्मी। नाम रखा गया—बर्नोंदे सुविरोस। चौदह वर्ष की आयु से इस लड़की को भावनात्मक अनुभूतियाँ होने लगीं।

ईसा मसीह की माँ जो कुमारी थी और 'वर्जिन मेरी' के रूप में जानी जाती हैं, उनके दर्शन सुविरेस को होने लगे। वे इस लड़की को संदेश देतीं। यह बात चारों तरफ फैली। ईसाई पुरोहितों ने इसका उग्र विरोध किया। १६ अप्रेल १८७९ को ३६ वर्ष की आयु में यह लड़की मर गई, पर मरकर भी वह अमर हो गई। उसकी स्मृति में वहाँ जो समाधि-स्थान बनाया गया, वह तीर्थ बन गया। लाखों लोग वहाँ आस्थापूर्वक आते। उनका कथन था कि वहाँ आने तथा रुकने से असाध्य रोग अच्छे हो जाते हैं।

फ्रांस सरकार ने इस बात की जाँच के लिए एक जाँच-आयोग गठित कर दिया, जो यह पता लगाए कि वहाँ आने वाले रोगियों को वास्तविक लाभ होता है या नहीं। आयोग में चिकित्सक, मनोवैज्ञानिक व समाजशास्त्री भी थे। अनेक मामलों की विस्तृत छान-बीन के बाद आयोग ने पाया कि यह बात पूर्णतः सत्य थी कि कई असाध्य रोगी लुर्द पहुँचने पर ठीक हो जाते थे। १९वीं-२०वीं शताब्दी में सरकारी तौर पर इस प्रकार की जाँच का यह एक मात्र मामला है, जिनमें आस्था के चमत्कारी परिणामों की पुष्टि हुई, यों सामान्यतः सरकारें जीवित व्यक्तियों की प्रसिद्धि की असलियत की तो छान-बीन करती है, किंतु तीर्थस्थानों या विशेष स्थलों को लेकर कोई खोज-पड़ताल नहीं करतीं।

रोगों के दो वर्ग हैं—शारीरिक और मानसिक। पहले को 'व्याधि' और दूसरे को 'आधि' कहते हैं। खाँसी, सरदी, दमा, कब्ज, मधुमेह जैसे रोग स्पष्टतः शारीरिक होते हैं। जबकि सनक, विस्मृति,

विसंगतियाँ, उलझनें, कुंठाएँ, मूढ़ता, उन्माद आदि मानसिक रोग हैं। शारीरिक रोग भी प्रायः मानसिक अस्त-व्यस्तता के ही परिणाम होते हैं। यदि ऐसा न भी हुआ, बाहरी कारण से रोग हो गया तो भी उसकी पीड़ा-व्यथा सहन मन को ही करनी पड़ती है। चिकित्सा क्रम में यदि मन ही हार मान बैठे, हिम्मत ही टूट जाए, तो शारीरिक शक्ति ढीली पड़ जाती है और प्रकृति भीतर-ही-भीतर रोग को दूर करने का काम कर रही होती है, उसकी प्रक्रिया धीमी पड़ जाती है। आस्था चिकित्सा से व्यक्ति के मन में नई आस्था, नए विश्वास का संचार हो जाता है। तब उपचार से शीघ्र आराम मिलता है। यदि रोग मानसिक ही हुआ, तब तो आस्था का संचार उसकी राम बाण औषधि सिद्ध होने वाला ही है।

इस तथ्य को समझने पर स्पष्ट हो जाएगा कि आस्था चिकित्सा वस्तुतः कोई बाहरी चमत्कार नहीं है। वह आत्मशक्ति का ही स्वाभाविक चमत्कार है। जन सामान्य अधिक अंतर्मुखी नहीं होता। अतः वह अपनी ही आस्था के इन चमत्कारों को बाहर आरोपित कर देता है।

आस्था मस्तिष्क की ऊपरी परत से नहीं, चेतना की मूल प्रवृत्ति के मर्मस्थल अंतःकरण से संबंधित होती है। इसीलिए बौद्धिक रूप में बाहरी आस्था-केंद्रों में विश्वास न करने वाले तथा इन्हें अंधविश्वास मानने वाले प्रबुद्ध लोग भी किन्हीं विशेष संकट के अवसरों पर इन आस्था-केंद्रों से लाभ उठाते देखे जाते हैं। उनके अंतर्मन में जमीं आस्था की गहरी परतें ऐसे मौकों पर प्रभावी सिद्ध होती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल-स्रोत आस्थाओं में सन्निहित रहता है। इसी आस्था-केंद्र से उमंगों और इच्छाओं का उद्भव होता है। ये इच्छाएँ उमंगें ही विचारणा और क्रिया को जन्म देती हैं। इस प्रकार मनुष्य के कार्यों का ही नहीं विचारों और इच्छाओं तक का उद्भव आस्था-मान्यता के चेतन-केंद्र से होता है। इस केंद्र से जैसी लहरें स्फुरणाएँ उठेंगी, वैसा ही चिंतन और

कर्म होगा। उसी के अनुसार व्यक्तित्व समुन्नत अथवा पतित बनता चला जाएगा।
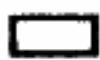
उन्माद, विस्मृति जैसे असामान्य लक्षणों की ओर तत्काल ध्यान चला जाता है, किंतु अनैतिकता, छल, प्रपंच, बेईमानी, अश्लीलता, अनाचार की प्रेरणाएँ भी मानसिक विकृतियों का ही परिणाम हैं। ये विकृतियाँ आस्था-केंद्र में घुसी विकृति का ही परिणाम होती हैं। इसीलिए आस्था-केंद्रों, प्रतीकों, पूजा-स्थलों से मिलने वाला वह लाभ बहुचर्चित रोगों के उपचारों से कई गुना अधिक है, जो मनुष्य के भीतर सद्‌विचारों, सद्‌भावनाओं को जाग्रत करता और बढ़ाता है। अच्छे पवित्र विचारों तथा उत्कृष्ट भाव-संवेदनाओं को प्रवाहित करने की आस्था-केंद्रों की सामर्थ्य ही उनकी वास्तविक विशेषता है।

आस्थाओं के भले और बुरे, दोनों ही रूप होते हैं। वे विरोधात्मक भी होती हैं, निषेधात्मक और विधेयात्मक आस्था व्यक्ति में उत्कृष्ट विचारों, पुण्य-प्रवृत्तियों और श्रेष्ठ उदात्त भावनाओं को जगाती-बढ़ाती हैं। निषेधात्मक आस्थाएँ आदमी में निष्क्रियता, निरुत्साह, परावलंबन, मिथ्या भय, अविवेक और संकीर्णता को बढ़ाती-पोसती हैं तथा क्रूरता तक को प्रोत्साहन देती हैं, क्योंकि संकीर्णता का अनिवार्य परिणाम क्रूरता होता है। विधेयात्मक श्रद्धा उत्कर्ष के नित नए आधार प्रस्तुत करती है, निषेधात्मक श्रद्धा पतन की ओर तेजी से धकेलती है।

शकुन-विचार, प्रेत-चर्चा, ग्रह दशा-विचार पहले उत्साह और प्रेरणा प्रदान करने के लिए फैलाए गए थे। यह उनकी उस समय की चर्चाओं के ढंग से पता चलता है। अब इन्हीं का उपयोग मूढ़ता, निकम्मापन, अंधकार, आलस्य और प्रमाद पर निर्भरता फैलाने के लिए किया जाता है। अनेक ज्योतिषी और तांत्रिक इन दिनों मनुष्य की इसी श्रद्धा का दोहन कर उसमें निषेधात्मकता बढ़ाते हैं। यह आस्था ही प्रथा-क्षमता का दुरुपयोग है, जबकि संत-महात्मा, साधु-ब्राह्मण, महामानव व्यक्ति की विधेयात्मक आस्था को उसके प्रसुप्त

देवत्व को जगाकर उस शक्ति का सदुपयोग करते हैं और डाकू को महाकवि, वेश्या को विदुषी, धर्मनेता तथा युद्ध-लोलुप सम्राट को शांति-सद्भाव का अग्रदूत बना देते हैं। वाल्मीकि, अंबपाली, अशोक जैसों के जीवन की घटनाएँ विधेयात्मक आस्था के चमत्कार का परिणाम है। जबकि जाति-उपजाति के भेदों में पिसते रहने, अपने और समाज के वास्तविक उत्कर्ष के लिए कुछ करने के स्थान पर ठगों-चालबाजों के पीछे दौड़ते-फिरने तथा पशुबलि, परपीड़न आदि से भाग्योदय की आशा करने, निठल्ले बैठे रहने वाले लाखों-करोड़ों लोग निषेधात्मक श्रद्धा के भयंकर चमत्कारों की जीती-जागती मिसाल हैं।

यह सब विचार करने पर यही तथ्य स्पष्ट होता है कि आस्था, जो अंत:करण की मूल प्रवृत्ति है, तभी लाभकारी होती है, जब वह विधेयात्मक हो। किसी-न-किसी प्रकार की आस्था तो हर व्यक्ति में होती है। वह निषेधात्मक हुई तो विघटन और विनाश का कारण बनेगी। उत्कर्ष-प्रगति की प्रेरक वही आस्था बन सकती है, जो विधेयात्मक हो। वे ही आस्था-केंद्र मानवता की वास्तविक सेवा कर सकते हैं, जो मनुष्य में विधेयात्मक श्रद्धा जगाएँ।

तनाव के कारण और उसके उपचार

जीवन-यापन की विकृत शैली अपनाकर ही लोग हर दिन नए-नए किस्म की ऐसी व्यथाओं से घिरते जा रहे हैं, जो न अभावजन्य हैं, और न विषाणुओं का आक्रमण। पिछले दिनों वैज्ञानिक, बौद्धिक और आर्थिक प्रगति उतनी नहीं थी, जितनी इन दिनों है। इतने पर भी पूर्वज हलकी-फुलकी जिंदगी जीने के अभ्यस्त थे और चिंताओं, भ्रांतियों से कुत्साओं-कुंठाओं से उतने नहीं घिरे रहते थे, जितने कि आज के तथाकथित 'सभ्य' मनुष्य। विकास की एक सीढ़ी यह भी मानी जा सकती है कि मनुष्य अनुदारता और उच्छृंखलता की दिशा में तेजी से बढ़ता, भागता चला जा रहा है। नई परिस्थितियों में नए किस्म के ऐसे रोग उत्पन्न हो रहे हैं, जिनका प्रस्तुत चिकित्सा ग्रंथों में उल्लेख नहीं मिलता और चिकित्सकों को अनुमान के आधार पर इलाज का तीर-तुक्का बैठाना पड़ता है।

इन परिस्थितियों में तनावजन्य रोगों से निपटने के लिए योगाभ्यास की प्रक्रिया अधिक कारगर सिद्ध हो रही है। जो कार्य ओषधि उपचार से नहीं बन पड़ रहा था, वह इन प्रयासों से सरलतापूर्वक होते देखा गया है। मानसोपचार की दृष्टि से ध्यान, धारणा और प्रत्याहार की त्रिविध प्रक्रिया बहुत ही कारगर सिद्ध हो रही है। यदि उस ओर अधिक ध्यान दिया जा सके और इस क्षेत्र में शोध-प्रयासों को बढ़ाया जा सके, तो ऐसे सूत्र हाथ लगने की पूरी संभावना है, जो मानसिक तनाव का सामयिक उपचार ही न करें, वरन उत्पन्न होने से पहले ही रोकथाम करने में कारगर सिद्ध हो सकें। मानसिक तनाव को ध्यान द्वारा और शारीरिक तनाव को

शवासन, प्राणाकर्षण जैसे कृत्य अभ्यासों से नियंत्रित किया जा सकता है।

वर्तमान समय में ५० प्रतिशत से अधिक रोगी तनाव की प्रतिक्रियास्वरूप रोगग्रस्त पाए गए हैं। चिकित्सकों एवं मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि लगातार सिरदर्द, चक्कर आना, आँखों में सुर्खी आना, काम में मन न लगना और लकवा आदि जैसे रोगों का आक्रमण हो जाना, ये सभी अत्यधिक तनाव के ही परिणाम हैं। ऐसे लोग प्रायः रोगों की उत्पत्ति के लिए कभी मौसम को, कभी आहार को, कभी दूसरों को, कभी परिस्थितियों आदि को दोष देते हैं। अधिक तनाव शरीर व तन दोनों के लिए हानिकारक है।

स्नायविक तनाव-विशेषज्ञ डॉ० एडमंड जैकबसन का कहना है कि हृदय रोग, रक्तचाप की अधिकता, अल्सर कोलाइटिस आदि सामान्यतः दिखाई देने वाले रोग प्रकारांतर से तनाव के ही कारण उत्पन्न होते हैं। स्नायु दौर्बल्य, अनिद्रा, चिंता, खिन्नता आदि अनेक रोग तनाव के फलस्वरूप ही पैदा होते हैं। न्यूयार्क के एक हृदय रोग विशेषज्ञ ने बताया है कि दूसरों पर दोषारोपण करने वाले, अत्यधिक भावुक एवं जल्दबाजी करने वाले लोग तनाव के अधिक शिकार होते हैं। मनोवैज्ञनिकों एवं अध्यात्मवेत्ताओं का कहना है कि तनाव की अधिकता मनुष्य की विचारधारा के कारण होती है। निषेधात्मक, निराशावादी, संचयात्मक चिंतन दृष्टिकोण आदमी में तनाव की सृष्टि करते हैं और तनाव से मुक्ति, व्यक्ति स्वयं ही पा सकता है।

'लाइफ एक्सटेंशन फाउंडेशन' नामक संस्था के संचालकों ने पता लगाया है कि व्यक्तियों में निराशा, असफलता, हार की भावना, निर्णय करने में दुविधा की स्थिति एवं चिंता आदि तनाव को जन्म देती है, एक कंपनी के मेडीकल डाइरेक्टर ने एक बार देखा कि उच्च पदासीन लोग उत्तेजना की स्थिति में हैं। एक दिन कंपनी के प्रेसीडेंट ने आकर उनको थका-थका-सा तनावग्रस्त देखा, तो

मेडीकल डायरेक्टर के सुझावानुसार उन्हें तनाव कम करने के लिए छुट्टियाँ लेकर विश्राम करने हेतु कहा गया। कुछ दिनों बाद जब वे विश्राम करके आए, तो परीक्षण करने पर पहले से अधिक शांत प्रसन्न पाए गए। खूब मन लगाकर काम करने लगे। कम समय में अधिक काम किया जाने लगा। अधिक जिम्मेदारीपूर्ण कार्य सरलतापूर्वक करने में सक्षम हो गए। सामान्यतः घरों में तनाव का कारण पति-पत्नी का आपसी मेल न बैठ पाना होता है। पत्नियाँ, पतियों को उकसाती, उत्तेजित करती हैं और पति-पत्नियों को रसोई आदि के कार्यों के लिए तंग करते हैं। परस्पर संतुलन न हो पाने से दोनों तनाव से ग्रसित हो जाते हैं। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि माता-पिता के बीच अनबन, कलह देखकर बच्चे भी तनाव से आक्रांत हो जाते हैं, फलतः पूरा घर ही नरक बन जाता है। इस नरक से त्राण पाने का रास्ता एक ही है कि परस्पर में सामंजस्य बैठाया जाए। प्रेम, आत्मीयता, सद्भावना, सहयोग आदि से वही परिवार स्वर्गीय आनंद का उपवन बन सकता है, जो जरा-से मतभेद एवं नासमझी के कारण नरक बन गया था। रहन-सहन में नियमितता लाने से, परस्पर स्नेह-सद्भाव से तनाव की बीमारी से मुक्ति मिल सकती है।

तनाव से मुक्त रहने के लिए सूक्ष्मदर्शियों ने यही कहा है कि अपनी क्षमता भर अच्छे-से-अच्छा काम करें। इससे बाहरी सहायता या मार्गदर्शन कुछ विशेष कारगर सिद्ध नहीं होता। अपने द्वारा उत्पन्न किए तनाव को कोई दूसरा दूर कैसे कर सकता है? तनाव को व्यक्ति स्वयं ही नियंत्रित एवं दूर कर सकता है। दूसरों का मार्गदर्शन थोड़ा-बहुत उपयोगी हो सकता है। स्वाध्याय के द्वारा यह सहज ही पता चल जाता है कि निरर्थक एवं महत्त्वहीन बातों को अधिक तूल दे दिया गया और अकारण ही तनाव को आमंत्रित कर लिया गया। वस्तुतः वह झाड़ी के भूत की कल्पना मात्र थी। अपने को तनावग्रस्त न होने देने के लिए दृढ़ निश्चय, लगन एवं सतत निष्ठापूर्वक सद्कार्यों में नियोजित किए रहना ही सर्वोत्तम उपाय

है। सदा सहनशीलता से काम लिया जाए। भविष्य के भय से भयभीत न हुआ जाए, वास्तविकता को दृष्टिगत रखा जाए, काल्पनिक बाधा या आशंका को स्थान न दिया जाए। वर्तमान में सामने आए काम को पूरी तत्परता से संपन्न किया जाए। उसी के संबंध में सोचा जाए, आशावान रहा जाए। ऐसा करने से स्वयं ही अपने भीतर इस प्रकार की शक्ति का अनुभव होगा, जो समस्याओं को सुलझाने में सहायक होगी।

ब्लड प्रेशर (हृदय रोग), दिल का दौरा अब मध्यम वर्ग के लोगों में भी पनप रहा है। इसका मूल कारण है कि लोग अधिक आराम का जीवन जीना चाहते हैं। परिश्रम से बचना चाहते हैं। आमदनी से अधिक खरच बढ़ाकर अधिक-से-अधिक चिंताओं का घेरा मकड़ी के जाल की तरह बुन लेते हैं।

मनोवैज्ञानिक भी यही कहते हैं कि हृदय रोग का कारण अज्ञात, भय, चिंता है, जो अंतर्मन में व्याप्त हो जाती है। नतीजा यह होता है कि मनुष्य की स्वाभाविक खुशी-प्रफुल्लता छिन जाती है।

इसमें रक्तवाहिनी नसें थक जाती हैं। कभी-कभी फट भी जाती हैं, फलतः मस्तिष्क में लकवा भी हो जाता है। अधिक दुःख में रक्त का दौरा बढ़ भी जाता है और शक्कर देने वाली क्लोम ग्रंथियाँ भी खाली हो जाती हैं तथा क्लोम रस मिलना बंद हो जाता है। यह ग्रंथि प्रसन्नता के अभाव में कार्य करना बंद कर देती है और क्लोम-रस देना भी बंद कर देती हैं। क्लोम-रस न मिलने से शर्करा स्वतंत्र हो जाती है और मूत्र के साथ बहने लगती है। इसी को मधुमेह कहते हैं। मधुमेह रोने, पछताने, शोक करने से भी हो जाता है।

कैंसर रोग पर हुए अनुसंधानों से यह प्रकाश में आया है कि जब व्यक्ति का आहार, आचरण एवं व्यवहार दूषित तत्त्वों से भर जाता है, उसका जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, वह तंबाकू, शराब आदि विषैली चीजों के चंगुल में अपने को फँसा लेता है, तो इस रोग का आरंभ हो जाता है।

अमेरिका के 'नार्थ वेस्ट रिसर्च फाउंडेशन' के प्रमुख अनुसंधानकर्त्ता वेर्नानिरिले ने अपने प्रयोगों से पता लगाया है कि मनुष्य के जीवन में भय, तनाव अत्यधिक चिंता इस रोग के प्रमुख कारण हैं।

अमेरिका के ही एक अन्य रिसर्च केंद्र 'हीलिंग आर्टस् सेंटर' ने कैंसर रोग का प्रमुख कारण 'मन' माना है। असफलता, पराजय, निराशा, भय, परेशानी, चिंता, असंतोष, वासना आदि से ग्रसित व्यक्ति बहुत जल्दी ही इस रोग से आक्रांत हो जाता है।

सन् १९५० में प्रसिद्ध मनोचिकित्सक श्री लारेंस ली शान ने कैंसर से पीड़ित व्यक्तियों के सामान्य लक्षणों को बताया है। उन्होंनें इसके कारण भावनात्मक असंतोष निराशा, असफलता, हार, अशांति आदि बताए हैं।

कैरोलीन बीड थॉम्स ने १९४६ से १९६४ तक १८ वर्षों में इस संदर्भ में किए गए प्रयोगों से निष्कर्ष निकाला है कि जो लोग चिंता, क्रोध, भय और तनाव से त्रस्त रहते हैं एवं जीवन में भावनाओं तथां वासनाओं की संतुष्टि नहीं कर पाते, अधिकांशत: वे ही लोग इस रोग से ग्रस्त होते देखे गए हैं।

'टेक्साज हेल्थ साइंस सेंटर' की यूनिवर्सिटी के डॉ० जैनी एक्टर वर्ग ने भी कैंसर का मुख्य कारण मानसिक तनावों को ही बताया है। उन्होंने इस रोग से त्राण पाने के लिए सर्वोत्तम उपाय रोगी की आत्मशक्ति का संवर्द्धन बताया है।

मेक्सिको के डॉक्टर अरनेस्टो कंट्रेराख ने बताया है कि इस रोग की प्रारंभिक अवस्था में आहार-विहार संबंधी सुधार किया जाए, बुरी आदतों को ठीक किया जाए प्रेम, सुख व शांति की वृद्धि की जाए तो कैंसर से मुक्ति पाई जा सकती है। उन्होंने इस चिकित्सा पद्धति को 'लैट्राइल चिकित्सा प्रणाली' का नाम दिया।

सभ्य कहलाने वाले पश्चिमी राष्ट्रों में हाइपरटेंशन, कैंसर कारोनरी, अथेरोस्कलेरौसिस आदि ऐसे रोगों की संख्या में दिन दूनी

व रात चौगुनी दर से हो रही वृद्धि चिंता का मुख्य विषय है। मोटापा, मधुमेह, पेप्टिक अल्सर, कोलाइटिस, आर्थराइटिस, दमा आदि ऐसे रोग हैं, जिनका मूल कारण विकृत मानसिक स्थिति और उसका स्वरूप ही है। विश्व के सभी बड़े–बड़े चिकित्साशास्त्री व मनोरोग विशेषज्ञ इस बात को मानने लगे हैं कि ७५ प्रतिशत रोगों का मूल कारण उद्वेगजन्य मनःस्थिति ही है।

'इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंस' वाराणसी हिंदू विश्वविद्यालय के डॉ० एन० उडुपा ने उद्वेगजन्य रोगों के कारणों व उनके निदान पर गहरे अध्ययन के पश्चात् इस प्रकार के रोगों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है—

(१) **शारीरिक अवस्था**—जब किसी व्यक्ति को मनोरोग होता है तो उस दशा में उसके किसी अंग में विशेष प्रकार की क्रियाशीलता देखी जा सकती है। इस दशा के लिए उसके वातावरण एवं उसकी पैतृक रूप से विरासत में प्राप्त गुण जिम्मेदार होते हैं। किसी में अक्ल की वृद्धि तो किसी के हृदय की धड़कन में वृद्धि के रूप में देखा जा सकता है। इस दशा का निर्धारण रक्त में कासकालाइंस एड्रेनलिन और नार एड्रेनलिन की वृद्धि की जाँच कर किया जा सकता है।

(२) **मनोदशा**—इस स्थिति में व्यक्ति के मन में एक तीव्र आघात होता है। जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति के स्वभाव में उद्विग्नता व चिड़चिड़ापन आ जाता है। किसी भी प्रकार की बात उसके लिए उद्विग्नता का कारण बन जाती है। बार–बार नींद का टूटना व सिहरन तथा कँपकँपी आदि प्रकार के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इस स्थिति की जानकारी रक्त में न्यूरोट्रांसमीटर ऐसेटिलक्लोरिन के स्तर को नापकर लगाई जा सकती है।

(३) **शारीरिक अंगों की दशा**—इस स्थिति में आते–जाते रोगी के शारीरिक व मानसिक लक्षणों की सक्रियता तो कम होती है, किंतु धीरे–धीरे संबधित अंगों में स्थायी रूप से उसका प्रभाव पड़ने लगता है, जैसे—दाह, कमजोरी आदि के साथ पेप्टिक

अल्सर, कारोनरी इंसफिसिशेनर्स, ब्रांकियल आदि रोगों के लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगते हैं।

डॉ० उडुपा ने इस संबंध में गहन अध्ययन के बाद निष्कर्ष निकाला है कि आसन-प्राणायाम के साथ-साथ ध्यान-धारणा व शिथिलीकरण के अभ्यास विशेष लाभकारी हुए हैं। जप और ध्यान का मनोरोगों को दूर करने में विशेष महत्त्व सिद्ध करते हुए पाश्चात्य वैज्ञानिका बुजती और राइडर ने अपने संयुक्त शोध-प्रयासों से स्नायुं प्रणाली के स्राव व न्यूरोट्रांसमीटर की जाँच के बाद यह सिद्ध कर दिया कि दो वर्ष से जप कर रहे ११ व्यक्तियों में मानसिक तनाव व तनावजनित रोग लगभग न्यून हो गए।

तनाव निवारण औषधियों तथा कृत्रिम उपकरणों से संभव नहीं। इसके लिए मानव जाति को अध्यात्म की शरण लेनी ही होगी।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा